साहित्य-विविधा

सम्पादक द्वय

रमन मरवाहा • डॉ० निर्मल कौशिक

साहित्य-विविधा • रमन मरवाहा • डॉ० निर्मल कौशिक

साहित्य-विविधा

सम्पादक-द्वय

रमन मरवाहा
सरकारी कालेज, ज़ीरा,
फिरोज़पुर ।

डॉ० निर्मल कौशिक
सरकारी बृजेन्द्र कालेज,
फरीदकोट ।

वीणा प्रकाशन
ज़ीरा, फिरोज़पुर ।

SAHITYA VIVIDHA
(A Collection of Research Articles)

Ed. by :

Raman Marwaha, Dr. Nirmal Kaushik

साहित्य-विविधा
शोध-परक संकलन

सम्पादक-द्वय

रमन मरवाहा

डॉ० निर्मल कौशिक

प्रथम संस्करण : 1993

मूल्य :

सजिल्द 70/- रुपये

अजिल्द 50/- रुपये

प्रकाशक :

श्रीमती वीणा मरवाहा,

वीणा प्रकाशन, जैन गली,

ज़ीरा, फिरोज़पुर—142047

मुद्रक :

जे. के. प्रिंटर्ज़,

289-पुरानी रेलवे रोड़,

जालन्धर शहर ।

फोन : 58973

शुभाशंसा

'साहित्य-विविधा' एक स्वनाम-सार्थक साहित्य संकलन है, जिसके लगभग अस्सी पृष्ठों में नौ लेखकों के ग्यारह लेख संकलित हैं। डॉ० निर्मल कौशिक और श्री रमन मरवाहा इसके उत्साही सम्पादक हैं, जिन्होंने गागर में संगम भरने के इस सराहनीय प्रयास से स्वस्थ साहित्यिक अभिरुचि और निष्ठा का परिचय दिया है। इसमें श्री मरवाहा का एक, और डॉ० कौशिक के तीन लेख भी सम्मिलित हैं। ये लेख प्रमाणित करते हैं कि इस संकलन का सम्पादक-द्वय संकलनी प्रकार का नहीं है, बल्कि मौलिकता और सोद्देश्यता के संस्कारों से सम्पन्न है।

'साहित्य-विविधा' की सम्पादकीय योजना में तारतम्य के स्थान पर वैविध्य को अधिक ध्यान में रखा गया है। इसके तीन लेखों का सम्बन्ध साहित्यिक शोध की प्रकृति, बहुरूपता और समस्याओं से है, इन लेखों में किसी रचनाकार के समूचे अथवा आंशिक रचना-कर्म को संदर्भ-विशेष में उद्घाटित किया गया है, एक लेख नारी-परक अध्ययन पर केन्द्रित है और एक अकेला ऐसा भी है जो जीवन के नैतिक प्रश्नों से जूझता है। ज़ाहिर है कि इस संकलन के पीछे कोई निश्चित नक्शा नहीं है, लेकिन प्रासंगिकता की दृष्टि अवश्य है। यही कारण है कि इसमें पंजाबी के एक कहानीकार और एक नाटककार पर लिखे गए दो लेखों को भी समाविष्ट किया गया है। अपनी ज़मीन से जुड़े रहने की यह प्रवृत्ति बहुत शुभ है। साहित्य में प्रामाणिकता, विश्वसनीयता, विस्तीर्णता आदि के गुण इसी से विकसित होते हैं। आज साहित्य के अनुशीलन को भाषाओं की परिधि में बांध कर नहीं, जीवन में उसकी हिस्सेदारी के सार्थक कोण से ही समृद्ध किया जा सकता है। भारतीय संदर्भ में यह अपेक्षा और बड़ी हो जाती है। मुझे प्रसन्नता है कि प्रस्तुत संकलन के सम्पादक हिन्दी साहित्य के भारतीय आधार और सरोकार को समझते हैं ?

'साहित्य-विविधा' के दोनों सम्पादकों को मैं एक लम्बे अर्से से जानता हूं। इस पहचान का एक कारण यदि उनका शालीन और सुखद सम्पर्क है तो मुख्य कारण उनकी साहित्यिक अभिरुचियां ही हैं। इस संकलन ने, सचमुच, इस पहचान को और प्रगाढ़ किया है। मैं दोनों के सफल साहित्यिक भविष्य की शुभाशंसा करता हूं।

ओम अवस्थी
प्रोफैसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर

सम्पादकीय

साहित्य किसी भी भाषा का हो, मानवीय संवेदना का संवाहक होता है। लिपी की दीवारें भी उसे अलग नहीं कर सकतीं। सद्साहित्य की पहचान भी यही है। मिट्टी की गन्ध उसे अमर बना देती है। ऐसा साहित्य भाषा और लिपी भेद से ऊपर उठकर सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो जाता है। पंजाब की धरती को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वेदों की रचना से लेकर आज तक जितना भी सद्साहित्य इस धरती पर रचा गया वह इसी कोटि का है। "श्री गुरु ग्रन्थ साहिब" का सम्पादन इस तथ्य की प्रौढ़ पुष्टि करता है कि सद्साहित्य मानव जीवन का पथ-प्रदर्शक होता है। उसमें 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' का लक्ष्य निर्धारित होता है। पंजाब की धरती पर रचा गया साहित्य भले ही वह 'गुरुमुखी' में हो या 'देवनागरी' में सदैव जनकल्याण की ओर उन्मुख रहा है। इधर पिछले कुछ वर्षों से 'गुरुमुखी लिपी में रचित हिन्दी साहित्य' को प्रकाश में लाने का शोधकार्य लाभप्रद सिद्ध हो रहा है। कुछ अनुवाद कार्य भी हुआ है। इससे पंजाब की सांस्कृतिक चेतना को और बल मिला है।

'साहित्य विविधा' हिन्दी और पंजाबी साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों को लेकर सम्पादित की गई पुस्तक है। हिन्दी और पंजाबी के सुधी विद्वानों के शोधपरक, आलोचनात्मक एवं उपयोगी आलेखों को एक साथ संजोकर प्रस्तुत करना ही 'साहित्य-विविधा का प्रयोजन है। प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें निरन्तर शोधकार्य में रत अपने-अपने क्षेत्र से जुड़े शोधार्थियों के शोधपूर्ण आलेख सम्मिलित किए गए हैं जो पूर्वाग्रह से मुक्त हैं। प्रयोगात्मक दृष्टि से यह लघुत्तम प्रयास है।

—सम्पादक द्वय

अनुक्रम

समीक्षक-दृष्टि

'साहित्य-विविधा' मेरी दृष्टि में अपनी तरह की पुस्तक है—खासकर दो भाषाओं के साहित्य के बीच एक ऐसा सेतु जो तुलनात्मक भारतीय साहित्य की पूर्व-पीठिका को निश्चित करता है। आधुनिक भारतीय साहित्य को, साहित्येतिहास दर्शन की दृष्टि से, परखने में ऐसी पुस्तकें सहायक सिद्ध हो सकती हैं। सम्पादक द्वय इस प्रयास के लिए साधुवाद के अधिकारी हैं।

हरमहेन्द्र सिंह बेदी, डी० लिट्०

'ਸਾਹਿੱਤ-ਵਿਵਿਧਾ' ਪੁਸਤਕ ਸੰਪਾਦਨ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਦਾ ਇਕ ਸੁਚੱਜਾ ਪ੍ਰਮਾਣ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਵਿਚ ਪੰਜਾਬੀ ਅਤੇ ਹਿੰਦੀ ਦੇ ਕੁੱਝ ਇਕ ਪ੍ਰਤੀਨਿਧ ਲੇਖਕਾਂ ਦੇ ਲੇਖ ਸੰਕਲਤ ਹਨ। ਸਾਂਝੇ ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਕੁੱਝ ਪ੍ਰਤੀਨਿਧ ਰੂਪਾਂ ਅਤੇ ਵੰਨਗੀਆਂ ਨੂੰ ਪਾਠਕਾਂ ਸਾਹਵੇਂ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰਨ ਵਿਚ ਇਹ ਪੁਸਤਕ ਇਕ ਮਹੱਤਵਪੂਰਣ ਭੂਮਿਕਾ ਨਿਭਾਏਗੀ ਅਜਿਹਾ ਮੇਰਾ ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਹੈ।

ਬ੍ਰਹਮਜਗਦੀਸ਼ ਸਿੰਘ (ਪ੍ਰੋ:)

'साहित्य-विविधा' का हिन्दी साहित्य में एक नवीनतम प्रयोग के रूप में आगमन हुआ है। सम्पादक द्वय ने हिन्दी और पंजाबी के आलेखों को एक साथ इस प्रकार संजोया है कि कहीं भी भिन्नता का आभास नहीं होता है। हिन्दी के पाठकों को पंजाबी साहित्य तथा पंजाबी के पाठकों को हिन्दी साहित्य के शोधपरक एवं आलोचनात्मक आलेखों को एक साथ पढ़ने का सुविधाजनक प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है।

कुलबीर सिंह कांग (डा०)

'ਸਾਹਿਤਯ-ਵਿਵਿਧਾ' ਦੋ ਭਾਸ਼ਾਵਾਂ ਵਿਚ ਰਚੇ ਗਏ ਵਿਵਿਧ ਸਾਹਿੱਤ ਰੂਪਾਂ ਸਬੰਧੀ ਆਲੋਚਨਾਤਮਕ ਲੇਖਾਂ ਦਾ ਅਨੂਠਾ ਸੰਕਲਨ ਹੈ ਅਤੇ ਆਪਣੇ ਆਪ ਵਿਚ ਨਵਾਂ ਤੇ ਮੌਲਿਕ ਤਜਰੁਬਾ ਹੈ। ਭਾਸ਼ਾਵਾਂ ਦੀ ਭਿੰਨਤਾ ਹੁੰਦਿਆਂ ਹੋਇਆਂ ਵੀ ਇਸ ਅਧਾਰ ਤੇ ਕੋਈ ਵੰਡ ਨਹੀਂ ਪਾਈ ਜਾ ਸਕਦੀ ਕਿਉਂਕਿ ਇਹ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਧਰਤੀ ਤੇ ਰਚਿਆ ਗਿਆ ਸਾਹਿਤ ਹੈ ਅਤੇ ਇਸਦੇ ਵਿਸ਼ੇ ਇਸੇ ਧਰਤੀ ਦੀ ਉਪਜ ਹਨ। ਇਹ ਪੁਸਤਕ ਹਿੰਦੀ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਦੀ ਪੁਰਾਣੀ ਸਾਂਝ ਨੂੰ ਹੋਰ ਸੁਦ੍ਰਿੜ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਗੁਰਨਾਮ ਬੇਦੀ, ਡੀ. ਲਿਟ

'साहित्य विविधा' का सम्पादन हिन्दी एवं पंजाबी आलोचना जगत के लिए मूल्यवान है। इस पुस्तक में हिन्दी और पंजाबी के शोधपूर्ण आलोचनापरक लेख संकलित हैं। इनमें नई चेतना के स्वर मुखरित हुए हैं। आलोचना का जनोन्मुखी चिन्तन पाठकों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस सम्पादन की विशेष उपलब्धि इस तथ्य में निहित है कि लेख समकालीनता बोध से सम्बन्धित है। सुन्दर सम्पादन पर बधाई।

राकेश कुमार (डा०)

1. 'साहित्यिक शोध : तात्विक विवेचन'

—प्रो० रघुनाथ जैन

मानव में सदैव नूतन तथ्यों एवं तत्त्वों को जानने की जिज्ञासा रही है। शोध इसी जिज्ञासा वृत्ति की तुष्टि की प्रायोगिक क्रिया है। शोध का चरम लक्ष्य ज्ञान का परिशोधन एवं उसका विस्तार करना है। ज्ञान का क्षेत्र असीम है और उस अपरिसीम एवं विविध क्षेत्रों में जिज्ञासा वृत्ति होने के कारण शोध का क्षेत्र भी विस्तृत कहा जा सकता है।

1-1. **शोध एवं उसके समानार्थी शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से** :—हिन्दी में 'शोध' शब्द अंग्रेज़ी शब्द 'रिसर्च' के पर्याय रूप में प्रयुक्त हो रहा है। इसी के साथ शोध के समानान्तर कई अन्य शब्द भी प्रचलित हैं जैसे गवेषणा, अन्वेषण, अनुसंधान, खोज इत्यादि।[1]

व्युत्पत्ति परक आधार पर शोध शब्द को देखें तो स्पष्ट होगा कि 'शोध' शब्द 'शुध' धातु से 'घञ' प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—शुद्धि संस्कार, ठीक किया जाना, दुरुस्ती, अदायगी, ऋण-शोध, बदला आदि।[2] आयुर्वेद में किसी कच्ची धातु को गला कर, उसके अनावश्यक तत्त्वों को हटा कर, शुद्ध एवं बढ़िया रूप में परिवर्तित कर देने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता था। इस रूप में यह शब्द सुधारने, शुद्ध करने, परिपक्व एवं गुणकारी बनाने के अर्थ को प्रकट करता है। अत: शोध की समस्त प्रक्रिया में शोध एवं परिष्करण की ही प्रधानता है। साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित आधुनिक अर्थ में 'शोध' शब्द तथ्यों के संकलन एवं भ्रांत तथ्यों को सही रूप में प्रस्तुत करने के भाव को व्यक्त करता है।

'गवेषणा' शब्द 'गवेष्+ल्युट्+युच्+टाप्' के योग से बना है, जिसका प्रारम्भिक अर्थ था 'गाय की इच्छा वाला' या 'गाय को ढूंढने वाला।' धीरे-धीरे इसमें से 'गो' शब्द का अर्थ उपेक्षित होकर विलुप्त हो गया, जिससे यह शब्द सामान्य रूप से किसी को ढूंढना, खोजना, इच्छा करना, तलाश करना आदि अर्थ प्रकट करने

---

1. वृहत अंग्रेज़ी हिन्दी कोश : डॉ० हरदेव बाहरी (वाराणसी : ज्ञानमंडल), पृ० 1561.

2. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी, पंडित तारिणीश झा, (इलाहाबाद : राम लाल बेनी प्रसाद, सं० चतुर्थ 1977), पृ० 1171.

लगा ।'[1] जहां शोध शब्द असत्य एवं अमान्य तत्त्वों को हटाने का अर्थ देता है, वहां 'गवेषणा' शब्द नए तथ्यों एवं निष्कर्षों की प्राप्ति के अर्थ को व्यक्त करता है। अध्ययन सम्बन्धी खोज एवं परीक्षण के लिए इस शब्द का प्रयोग नवीन कहा जा सकता है ।

'अन्वेषण' शब्द 'अनु' उपसर्ग 'इष्' धातु के साथ 'ल्युट' प्रत्यय के संयोजन से बना है, जिसका अर्थ है खोज एवं अनुसंधान आदि ।[2] आधुनिक अर्थ में यह शब्द तत्त्वों के अन्वेषण का अर्थ प्रकट करता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अन्वेषण' एवं 'गवेषणा' दोनों शब्द अंग्रेज़ी के 'रिसर्च' शब्द के अर्थ का बोध नहीं कराते हैं ।

'अनुसंधान' शब्द 'अनु' तथा 'सम' उपसर्ग के पूर्व 'धा' धातु के साथ 'ल्युट' प्रत्यय के संयोजन से बना है, जिसका अर्थ है खोज, तहकीकात, सूक्ष्म-निरीक्षण या पर्यवेक्षण, परीक्षा, जाँच, चेष्टा, प्रयत्न आदि ।[3] आधुनिक युग में इसके मुख्य प्रचलित अर्थ हैं खोज, सूक्ष्म-निरीक्षण-परीक्षण एवं जांच । अर्थात् प्राप्त तथ्यों का पर्यालोचन करके सत्य-असत्य को निर्धारित करना ही अनुसंधान है ।

अंग्रेज़ी शब्द 'रिसर्च' की व्युत्पत्ति है प्रिफिक्स री+सर्च जिसका अर्थ है—सूक्ष्म निरीक्षण या तथ्यों एवं सिद्धांतों को ढूंढने के लिए जांच या नयी व्याख्या ।[4] वस्तुत: व्युत्पत्ति के आधार पर 'रिसर्च' शब्द सर्वथा नूतन सृष्टि का ही नहीं, अपितु अज्ञात को ज्ञात करने के अर्थ को ही व्यक्त करता है ।

1.2. **हिन्दी में 'शोध' का विशिष्ट अर्थ** :—जैसा कि हमने पहले भी स्वीकारा है कि आरम्भ में शोध शब्द कच्ची अथवा सदोष धातुओं को गला कर उन्हें शोधित एवं परिष्कृत करने के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। जहाँ 'शोध' शब्द में दो क्रियाएं सन्निहित हैं—(क) कच्ची धातु की उपलब्धि, (ख) उसे गला कर दोष रहित एवं परिष्कृत बनाना । अत: शोध शब्द सुधारने, शुद्ध करने, परिपक्व एवं गुणकारी बनाने के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। आज भी 'शोध' शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ भी अपने को मूल अर्थ से अलग नहीं कर पाया है ।

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे (दिल्ली : मोती लाल, बनारसी दास, दि०सं—1969), पृ० 340-

2. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सं० द्वारिका प्रसाद, पंडित तारिणीश झा, पृ०, 81.

3. उपरिवत, पृ० 70.

4. द न्यू वेबस्टर एनसाइक्लोपीडिया डिक्शनरी, सं० विर्गिनिया थैचर, (शिकागो: कसोलीडेटिड बुक पब्लिशर्ज़), पृ० 715.

1.3. **शोध शब्द की सार्थकता** :—यदि हम अंग्रेज़ी शब्द 'रिसर्च' का हिन्दी में उचित पर्यायवाची ढूंढने का प्रयास करें तो वह शब्द 'अनुसंधान' ही होगा, जोकि 'रिसर्च' शब्द से ध्वनित अर्थ को प्रकट करने में सबसे अधिक समर्थ है। परन्तु यदि हम इसके विस्तृत होते हुए स्वरूप एवं सीमा को ध्यान में रखें तो कह सकते हैं कि अंग्रेजी में एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जो इस शोध-प्रक्रिया के भाव को सही प्रकार से व्यक्त कर पाए। वस्तुत: शोध के आधुनिक प्रचलित अर्थ को व्यक्त करने में न तो पूरी तरह 'रिसर्च' शब्द समर्थ है ओर न ही हिन्दी का 'अनुसन्धान' शब्द। इस भाव को अभिव्यक्ति देने में एक ही शब्द समर्थ है, वह है हिन्दी का 'शोध' शब्द। इसका कारण यह है कि 'शोध' शब्द अंग्रेज़ी के 'रिसर्च' शब्द के समस्त क्रिया-व्यापार को तो प्रकट करता ही है, साथ में उस भाव को व्यक्त करने में भी समर्थ है, जिसे 'रिसर्च' के अन्तर्गत तो समझा जाता है, परन्तु इससे नि:सृत नहीं होता। 'शोध' शब्द सामग्री के सन्धान उसके परिशोधन तथा फिर इसे प्रमाणीकृत रूप में प्रस्तुत करने के अर्थ की अभिव्यंजना करता है। अत: शोधार्थी के लिए तथ्यों की खोज-मात्र ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि तथ्यों को परिशोधित एवं प्रमाणीकृत रूप में भी प्रस्तुत करना है।

इस रूप में 'शोध' अपने समानार्थ प्रचलित शब्द 'अनुसन्धान' से भी थोड़ा भिन्न अर्थ देने लगता है। 'शोध' शब्द जहां सत्य को निर्मल एवं संदेह रहित रूप में लाने का परिचय देता है, वहां 'अनुसन्धान' शब्द ऐसे भाव को व्यक्त नहीं करता। वस्तुत: 'शोध' शब्द में जो शुद्धिकरण का भाव है, वही इसे 'अनुसंधान' शब्द से महत्त्वपूर्ण बनाता है। कहा जा सकता है कि शोध में सामग्री-संचयन, एवं उसके निरीक्षण-परीक्षण द्वारा जिस परिष्कृत रूप को चरम लक्ष्य बनाया जाता है, उसकी 'अभिव्यक्ति' 'शोध' शब्द द्वारा ही संभव है। अत: 'शोध' शब्द सार्थक है।

1.4. **शोध क्या है ? विभिन्न विचार** :—पीछे हमने 'शोध' की व्याख्या करने का प्रयास किया है, फिर भी इस संदर्भ में विद्वानों के विचार जानना उपयोगी होगा। 'एनसाइक्लोपीडिया आफ ब्रिटेनिका' की परिभाषा के अनुसार, "मूल शोध एक वैज्ञानिक या अन्य व्यक्ति के ऐसे कार्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिन्होंने अपनी खोज किसी निश्चित लक्ष्य के, प्रकृति के रहस्य को उघाड़ने के लिए की।"[1] जौन डब्ल्यू बैस्ट ने शोध को एक निश्चित पद्धतिबद्ध खोज स्वीकार किया है, जिसमें शोधार्थी यह जानता है कि उसकी समस्या के बारे अब तक क्या जाना जा चुका है। वह इसी तथ्य से आगे बढ़ कर अपनी पद्धति को व्यवस्थित करता है।[2]

---

1. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका : वॉलयम 15, पृ० 739.

2. रिसर्च इन ऐजुकेशन : जान डब्ल्यू बैस्ट (दिल्ली : **परैंटिक हाल ऑफ** इंडिया, 1963) पृ० –7.

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी अपनी परिभाषा में शोध-सम्बन्धी दो अर्थों को स्पष्ट करते हैं, स्थूल अर्थ में वह शोध को 'नवीन एवं विस्मृत तत्त्वों का अनुसंधान' तथा सूक्ष्म अर्थ में उसे 'ज्ञात, साहित्य के पुनर्मूल्यांकन और नयी व्याख्याओं का सूचक मानते हैं ।'[1] डॉ० नगेन्द्र शोध के लिए 'अनुसंधान' शब्द प्रयोग करते हैं तथा अनुसंधान के तीन धर्म घोषित करते हैं—(क) नवीन तथ्यों का अन्वेषण, (ख) उपलब्ध तथ्यों एवं सिद्धांतों की नयी व्याख्या, (ग) ज्ञान की वृद्धि ।'[2] डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा का कथन है..., 'ज्ञात अथवा खोजी हुई सामग्री का युक्ति-युक्त आधार पर पुनर्विवेचन या पुनर्मूल्यांकन ही रिसर्च है ।'[3]

विभिन्न विद्वानों के विचारों से 'शोध' क्या है ? प्रश्न का स्पष्टीकरण काफी सीमा तक हो जाता है । यदि इन परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो 'शोध' सम्बन्धी मुख्य तीन तथ्य उभर कर हमारे सामने आएंगे :—

(क) सर्वथा अज्ञात एवं अनुपलब्ध तथ्यों की नयी खोज के साथ उन तथ्यों को संकलित, सुसंगतीकृत, विश्लेषित तथा मूल्यांकित करने का निष्पक्ष प्रयास ।

(ख) ज्ञात साहित्य का सूक्ष्मता एवं गहराई के साथ निरन्तर परिशोधन, पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्व्याख्या करने का निष्पक्ष प्रयास ।

(ग) साहित्य के किसी एक विषय से सम्बन्धित तथ्यों का संकलन एवं समाहार करके वस्तुमूलक रूप में निष्कर्षों की प्राप्ति ।

1.5. **निष्कर्ष** :—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शोध गतिशीलता का नाम है, जड़ता का नहीं, अत: उसमें नए निष्कर्षों की स्थापना आनी ही होगी । हम शोध को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं—शोध अज्ञात का अन्वेषण या ज्ञात सामग्री का विशिष्ट दृष्टि से चयन कर उनकी सूक्ष्म छानबीन के पश्चात् निष्पक्ष एवं वस्तुपरक व्याख्या युक्त निष्कर्षों की प्राप्ति है । अन्वेषण से हमारा अभिप्राय काल प्रवाह में विलुप्त तथ्यों की खोज से तथा व्याख्या से अभिप्राय तथ्यों द्वारा व्यंजित

---

1. 'शोध-सामग्री' डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, **अनुसंधान की प्रक्रिया**, सं० डॉ० सावित्री, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग, दि० सं० 1969), पृ० 46.

2. 'अनुसंधान एवं आलोचना' डॉ० नगेन्द्र, **अनुसंधान की प्रक्रिया**, सं सावित्री, डॉ० स्नातक, पृ०—2

3. 'शोध प्रबन्ध की रूप रेखा के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति' डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, संभावना (शोध विशेषताएं), पृ० 65.

सत्यों की निष्पक्ष व्याख्या से है। विषय के समस्त निरीक्षण-परीक्षण के पश्चात् जो असंदिग्ध निष्कर्ष उभर कर आते हैं, शोध में उन्हीं को प्रतिपादित करना होता है। इस प्रकार शोध स्थूल तथ्यों का संकलन मात्र न होकर अपने सीमित क्षेत्र में सूक्ष्म, गंभीर, व्यवस्थित, गवेषणात्मक शोध है, जो तथ्यों के अनुकूल निष्पक्ष निष्कर्षों से युक्त हो।

2. शोध एवं आलोचना : गुण धर्म साम्य वैषम्य :—

2.1. **साम्य** :– साहित्य के क्षेत्र में हमें शोध एवं आलोचना के कुछ ऐसे रूप मिलते हैं, जिनमें दोनों के गुण एक-दूसरे से घुले-मिले रहते हैं तथा वहां शोध एवं आलोचना में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। इसका कारण यही है कि शोध एवं आलोचना दोनों की पद्धति में पर्याप्त साम्य है। इसमें व्याख्या, विश्लेषण एवं निष्कर्ष की पद्धति में तथा सुष्ठु अभिव्यंजना में पर्याप्त साम्य है। इस संदर्भ में नगेन्द्र का कथन है......"अनुसंधान और आलोचना की केवल जाति ही नहीं उपजाति भी एक है। अत: दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति बहुत कुछ समान है, व्याख्या, विश्लेषण एवं निर्णय दोनों में समान है।"[1]

2.2. **वैषम्य** :—इतना होने पर भी शोध एवं आलोचना में पर्याप्त भेद है। आज जिस रूप में हम 'शोध' शब्द को ले रहे हैं, उसका अभिप्राय आलोचना से भिन्न है। शोध की पद्धति भी आलोचना की पद्धति से भिन्न है। शोध एवं आलोचना के भेद को यदि हम मोटे तौर पर पंक्तिबद्ध करना चाहें, तो इस प्रकार कह सकते हैं :—

(क) शोध मैं अन्वेषण (खोज) पर अधिक बल दिया जाता है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर।

(ख) शोध में तथ्यानुसरण पर अधिक बल दिया जाता है। इसलिए शोध में तथ्य ही अधिक बोलते हैं, शोधार्थी कभी आलोचना में तथ्यपरकता का इतना महत्त्व नहीं जितना अभिव्यक्ति के ढंग का।

(ग) शोध में निष्पक्षता, निरपेक्षता एवं तटस्थता का महत्त्व सबसे अधिक है जबकि आलोचना में आलोचक अपनी प्रतिबद्धता के कारण पूर्व-नियोजित मानदण्डों के साथ आलोचना में उतरता है।

(घ) शोध में तथ्यों को विषयानुसार चुनना होता है, जबकि आलोचक इच्छानुसार तथ्यों को चुनने में स्वतन्त्र होता है।

---

1. 'अनुसंधान एवं आलोचना' डॉ० नगेन्द्र, अनुसंधान की प्रक्रिया, पृ० 7

(ङ) शोध में तथ्यों के सहारे अंतिम निष्कर्षों तक पहुंचना ज़रूरी है, जबकि आलोचना में ऐसी अनिवार्यता नहीं है।

(च) शोधार्थी की भाषा संवेग युक्त तो हो सकती है परन्तु वह तथ्यपरकता एवं अनुशासन की डोर में बंधी होती है, जबकि आलोचक समयानुकूल व्यंग्य एवं कटाक्ष का प्रयोग कर सकता है तथा भारी भरकम शब्दावली के प्रयोग पर भी रोक नहीं है।

2.3. **निष्कर्ष** :—स्पष्ट है कि शोध एवं आलोचना में पर्याप्त भिन्नता है फिर भी दोनों में साम्य के कारण दोनों के गुण प्राय: एक-दूसरे में आ ही जाते हैं। डॉ० विनय मोहन शर्मा का कथन है..., 'शोध में समीक्षा के गुण प्राय: आ जाते हैं, परन्तु समीक्षा का शोध-सहित होना ज़रूरी नहीं है।"[1] चाहे डॉ० शर्मा समीक्षा का शोध-सहित होना अनिवार्य नहीं मानते, फिर भी यदि हमें आलोचना में शोध की विशेषताएं दिखती हैं तो ऐसी आलोचना को हम 'शोध परक आलोचना' कह सकते हैं। वस्तुत: शोध एवं आलोचना दोनों की सार्थकता के लिए इन्हें एक-दूसरे के गुणों को अपनाना ही होगा। शोध में विषय-चयन, सामग्री-चयन एवं निष्कर्षों की प्राप्ति में आलोचनात्मक दृष्टि सहायक हो सकती है, जबकि आलोचना में भी शोध के गुण मौलिकता निष्पक्षता एवं तथ्यपरकता आदि आलोचना को अधिक सार्थक एवं समर्थ बना सकते हैं।

3.1. **साहित्यिक शोध का क्षेत्र** :—जब अज्ञात तथ्यों एवं तत्त्वों को प्रकाश में लाने या फिर ज्ञात सामग्री का विशिष्ट दृष्टि से चयन कर उसकी सूक्ष्म छानबीन के पश्चात् निष्पक्ष एवं वस्तुपरक स्थापना को शोध का चरम लक्ष्य घोषित किया जाता है, तो ऐसा करने से वह प्रत्येक विषय जिसमें नवीन तथ्यों या तत्त्वों की खोज की गई हो, को शोध में स्थान दिया जा सकता है। स्वरूप की दृष्टि से शोध को दो क्षेत्रों में बांटा जा सकता है—(क) भौतिकी, (ख) मानविकी। विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले शोध को हम 'भौतिक शोध' के अन्तर्गत रख सकते हैं, जबकि मानव के विचार क्षेत्र से सम्बन्धित शोध को 'मानविकी शोध' कह सकते हैं, जिसमें साहित्य, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में होने वाले शोध आ जाते हैं। स्पष्ट है कि साहित्य से सम्बन्धित शोध को हम 'साहित्यिक-शोध' कह सकते हैं, जिसे 'मानविकी-शोध' का ही एक रूप कहा जा सकता है। 'साहित्यिक-शोध' से अभिप्राय साहित्य के क्षेत्र में नये-नये तथ्यों की व्याख्या एवं खोज से लिया जा सकता है।

---

1. शोध प्रविधि, डॉ० विनय मोहन शर्मा (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग, सं०-1972), पृ० 15.

अमेरिकन पी० एम० एल० ए० के अनुसार 'साहित्यिक शोध' के प्रमुख चार क्षेत्र हैं :—(क) शैली-वैज्ञानिक (ख) संपादकीय एवं पाठ्यालोचना (ग) साहित्येतिहास (घ) साहित्यिक आलोचना।[1] साहित्यिक शोध के मूल में कोई न कोई समस्या रहती है और समस्या के अनुरूप वहां शोध की प्रविधि बदलती रहती हैं। इसी कारण पाठानुसंधान में शोध प्रविधि परिवर्तित हो जाती है।

3.2. **निष्कर्ष** :—साहित्यिक-शोध एवं वैज्ञानिक शोध में अन्तर लक्ष्य का नहीं अपितु शोध-प्रविधि के स्वरूप एवं क्षेत्र का है। फिर भी दोनों प्रकार के शोध कार्य का सम्बन्ध मनुष्य एवं समाज के विकास से है, अतः प्रविधि एवं क्षेत्र में अन्तर होते हुए भी ये दोनों अन्तः सम्बन्धित हैं।

4. **साहित्यिक-शोध के लिए वैज्ञानिक-पद्धति** :—आज का युग विज्ञान का युग है, अतः साहित्विक-शोध में भी वैज्ञानिक पद्धति अपनाने पर बल दिया जाने लगा है। वस्तुतः 'शोध' शब्द तो सीधे ही विज्ञान से जुड़ा हुआ है, अतः शोध के लिए वैज्ञानिक पद्धति महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हो सकती है। प्रश्न है कि वैज्ञानिक पद्धति है क्या ? 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका' के अनुसार, "वैज्ञानिक पद्धति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात एक ऐसे सिद्धांत की कल्पना, जो जांच में पूरी उतर सके। इसे नियमबद्ध नहीं किया जा सकता।"[2] वैज्ञानिक नियम निर्धारण की प्रमुख तीन अवस्थाएं हैं—(क) सार्थक तथ्यों का चुनाव (ख) तथ्य-विश्लेषण के लिए परिकल्पना (ग) परिणामों का निगमन जो जांच द्वारा परखे जा सकें।[3] वैज्ञानिक पद्धति के इन तीन सोपानों को साहित्यिक शोध में इस रूप में देखा जा सकता है—(क) प्रामाणिक तथ्यों का चुनाव (ख) तथ्यों का निरीक्षण-परीक्षण (ग) तथ्याधारित निष्कर्ष।

4.1. **प्रामाणिक तथ्यों का चुनाव** :—शोध में वैज्ञानिकता लाने हेतु जरूरी है कि शोध में उन्हीं तथ्यों का प्रयोग किया जाए, जो पूरी तरह प्रामाणिक हों। अप्रामाणिक, अर्द्ध-प्रामाणिक या अधकचरे तथ्यों के प्रयोग से शोध की वैज्ञानिकता

---

1. द एयम मैथ्ड्स एंड मैटिरियल ऑफ रिसर्च इन द मॉडरन लैंगुएज एंड लिटरेचर: रिपोर्ट बाई हरवट मरचवर्डट, रेनेवेलक, पी० एम० एल० ए० सं० विलियम रैली पैकर, वॉलयम 67, अक्तूबर-1952, पृ० 3.

2 एन साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका, वॉलयम 15, पृ० 28.

3. वैज्ञानिक परिदृष्टि : बर्ट्रेंडरसेल, अनुवादक गंगा रतन पांडेय (दिल्ली : राजकमल, 1967), पृ० 46

समाप्त होगी। हिन्दी में यह शोध का दुर्भाग्य रहा है कि इसमें अप्रामाणिक तथ्यों का विपुल मात्रा में उपयोग हुआ है।

4.2. **निरीक्षण-परीक्षण** :—तथ्यों के चुनाव के पश्चात् दूसरा सोपान निरीक्षण-परीक्षण का है। निरीक्षण के दो धर्म हैं—(क) तथ्यों का व्यापकता से सर्वेक्षण (ख) गहराई से उनका परीक्षण। शोध में निरीक्षण पृष्ठभूमि का कार्य करता है और परीक्षण विश्लेषण का। शोध में वैज्ञानिकता लाने के लिए ज़रूरी है कि निरीक्षण अनावश्यक न हो तथा वहीं तक हो जहां तक तथ्यों की पुष्टि करता हो।

4·3. **निष्पक्षता के साथ निष्कर्ष** :—जब साहित्यिक शोध में हम निष्पक्षता की बात करते हैं, तो उसका तात्पर्य है कि प्रतिबद्धता के बावजूद तथ्यों का चुनाव मनमाने ढंग से न हो और तथ्य इच्छानुसार तोड़े-मरोड़े न जाएं। अर्थात् यदि तथ्यों द्वारा निष्कर्ष प्रतिबद्धता के विरोध में प्रकट होते हैं, तो भी उन्हें स्वीकार किया जाए। इसके लिए आधार तथ्य ही होने चाहिए।

4.4. **निष्कर्ष** :—इन सोपानों से वैज्ञानिक शोध की सार्थकता साहित्यिक शोध के लिए स्पष्ट ही है। इतना होने पर भी इस प्रणाली का प्रयोग विवेक एवं सतर्कता से करना होगा, ताकि वैज्ञानिकता के आधिक्य से साहित्यिक शोध की कलात्मकता ही नष्ट न हो जाए।

5. **साहित्यिक शोध की उपयोगिता एवं सार्थकता** :—यदि हम उपयोगितावादी दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होगा कि साहित्यिक शोध की उपयोगिता वैज्ञानिकता एवं राजनीतिक शोध की अपेक्षा बहुत कम है। इसके कई कारण हैं, जिसमें मुख्य यह है कि साहित्य हमारे दैनिक जीवन में विज्ञान, अर्थ, राजनीति की तरह एक परम्परा के रूप में गृहीत नहीं होता। हमारे जीवन में आर्थिक नैतिक विश्लेषण के तो प्रश्न पैदा होते हैं, परन्तु साहित्यिक विश्लेषण की हम ज़रूरत नहीं समझते। इसका एक अन्य कारण यह है कि साहित्य हमारे यहां मनोरंजन का साधन माना जाता रहा है। इस कारण साहित्यिक-शोध का महत्त्व उसी छोटे वर्ग तक सीमित रह गया है, जिसने उसे पढ़ा है। मान लें साहित्य में एक शोध-विषय 'प्रसाद के नाटकों में नारी भावना' का कार्य हुआ। इस शोध का जन-साधारण के लिए कितना महत्त्व होगा ? मान लो कितने ऐसे लोग हैं, जिन्होंने प्रसाद के नाटकों को पढ़ा है, जिन्होंने पढ़ा है, उनके लिए भी यह सार्थक तो हो सकता है, उपयोगी नहीं। यह बात साहित्यिक-शोध के सन्दर्भ में कहे विद्वानों के विभिन्न कथनों से भी स्पष्ट है

जिन्होंने शोध का चरम लक्ष्य 'ज्ञान का विस्तार, वृद्धि या फिर मानवीय चेतना की समृद्धि'[1] मान कर इसकी सार्थकता को ही स्वीकारा है, उपयोगिता को नहीं।

यदि हम चाहते हैं कि साहित्यिक-शोध सामाजिक सन्दर्भों में भी उपयोगी प्रमाणित हो तो उसे जीवन के अधिक निकट लाना होगा तथा इसे दूसरे ज्ञानानुशासनों से जोड़ कर प्रस्तुत करना होगा, तभी यह जन-साधारण के लिए महत्त्वपूर्ण होगा तथा वैज्ञानिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में होने वाले शोध की तरह उपयोगी प्रमाणित हो सकेगा।[2]

(प्रवक्ता : सरकारी कालेज, पट्टी, अमृतसर)

1. शोध की अवधारणा : जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (शोध विशेषाँक), पृ०—2.

2. डॉ० शशिभूषण सिंघल :

रहीम के काव्य में नैतिकता

—रमन मरवाहा

नैतिकता का मूल शब्द 'नीति' संस्कृत के नी+क्तिन् (प्रत्यय) से बना है। "नीयन्ते सलभ्यन्ते उपायादयः एहिकामुष्किकार्थी वा अनया।" जिसका अर्थ है ले जाने की क्रिया, पथ प्रदर्शन, चाल चलन, आचार-पद्धति।"[1] वृहद् हिन्दी कोश में नीति अथवा नैतिकता का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप में बताया गया है। इसमें नैतिकता को लोकोपयोगी सिद्धान्त कहा गया है। इसके अनुसार यह सिद्धान्त वह है जिसमें कोई कार्य संचालित किया गया हो, और वह कार्य लोकमंगल की भावना रखता हो।[2] प्रसिद्ध विद्वान भाई कान्ह सिंह नाभा जी ने महान कोश में नैतिकता को इस तरह शब्दबद्ध किया है, "नैतिकता मानव को श्रेष्ठ गुणों की ओर अग्रसर करती है। वह रीति जिसके द्वारा आदमी सन्मार्ग पर चल सके। धर्म और समाज के चलने का नियम ही नैतिकता है।[3] नैतिकता वास्तव में व्यवहार की वह नीति है, जिससे अपना कल्याण हो और समाज को भी कोई भी असुविधा न हो। व्यवहार के लिए, शुभ, कल्याणकारी एवं अच्छाई का संकल्प ही मानव समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

अतः नैतिकता (नीति) का अभिप्राय दुर्गुणों से बचाकर मनुष्यों को सद्गुणों की ओर प्रेरित करना है। नीति मनुष्य के व्यवहार को सदव्यवहार बनाने में सहायक होती है जिससे वह श्रेष्ठ मानव कहलाता है। नैतिकता को दर्शन का ही एक उपभाग माना जाता है जो मनुष्य को आदर्श की ओर ले जाता है। इस उपभाग में औचित्य-अनौचित्य तथा शुभ-अशुभ का विचार तथा नैतिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है। इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना (Encyclepedia Americana) में भी इस बात की पुष्टि की गई है :—नैतिकता दर्शन की ही एक शाखा है, जिसमें मनुष्य के नैतिक कार्यों, निश्चयों का मूल्यांकन किया जाता है और उसके

---

1. मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शन खण्ड) सम्पादक डा० नगेन्द्र, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1966.

2. वृहत् हिन्दी कोश, स० कालिका प्रसाद वाराणसी : ज्ञान मण्डल लि० संवत् 2030.

3. महान् कोश, भाई काहन सिंह नाभा-पटियाला : भाषा-विभाग पंजाब, 1974.

साधारण व्यवहार के विषय में जाना जाता है।[1] नैतिकता मानव को व्यवहार, आचरण, चरित्र, सद्गुण, जीवन के ढंग, नियम तथा अनुशासन की ओर अग्रसर करती है। वास्तव में यह सभी पक्ष एक दूसरे से संबंधित हैं, सद्गुणों से मनुष्य सदाचारी और सच्चरित्र बनता है। वह व्यवहार-कुशल एवं सुखद जीवन व्यतीत करता है। अत: नैतिकता मानव को सही जीवन-दिशा प्रदान करती है। नैतिकता शब्द का प्रयोग तीन अन्तर्सम्बंधित बातों के रूप में किया जाता है। जैसे (1) साधारण रूप से जीने का ढंग (2) व्यवहार के कुछ नैतिक नियम (3) जीवन के ढंग या व्यवहार के नियमों के विषय में जांच पड़ताल।[2] नैतिकता मानव व्यवहार को निर्देशित करती है उसके गुण दोषों का नीर-क्षीर विवेचन करती हैं। नीति या नैतिकता का मानव जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यह नियमित होने के कारण वैज्ञानिक भी है। शायद इसी लिए ही नैतिक सिद्धान्तों से संबंधित इस ज्ञानानुशासन को 'नीतिशास्त्र' की संज्ञा दी गई है। नीतिशास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन करने से इसकी प्रकृति के बारे हम जान सकते है। "नीति विज्ञान का संबंध जीवन के नीति व अनीति से संबंधित पक्ष से है, यह विज्ञान व्यवहार के उचित एवं अनुचित होने का निर्णय करता है।[3] नीति विज्ञान नैतिक चेतना में निहित सत्यों को व्यक्त करने वाला विज्ञान है। मैकेंजी के अनुसार—नीति विज्ञान मनुष्य के कार्यों में क्या बुरा और अच्छा है इससे संबंधित है।[4] चाहे हम कितना भी नीति विज्ञान का अध्ययन करें, कितनी ही योग्यता से हम अनावृत सत्यों का आत्मसात करें फिर भी यह अनिवार्य नहीं कि हमारे संकल्प पूर्णतया विशुद्ध हो जाएं और आदर्शों एवं नीति पथ का अनुसरण करने लगें।

नीतिविज्ञान के विभिन्न सिद्धान्त माने जाते हैं :—

1. सोपक्ष नैतिक सिद्धान्त।
2. आत्मपरक नीति वैज्ञानिक सिद्धान्त।
3. प्रकृतिवादी नीति सिद्धान्त।

---

1. Encyclopedia Americana Vol 10 New York. Americana Corporation, 1972.

2. भाई गुरदास, व्यक्तित्व और कृतित्व : डा० निर्मल कौशिक सूर्यप्रकाशन नई दिल्ली, 1974 पृ० 59.

3. An-Introduction to Ethics—William Lillie—Mathew and Co. Let London, 1945, page 2.

4. Manual of Ethics—J, F. Mackenzic—Univerity Territorial Press London 1929, P 5.

सोपक्ष सिद्धान्त के अनुसार सभी व्यक्तियों के लिए समाज में कोई निश्चित नियम नहीं है। नैतिक सापेक्षता कुछ भिन्न स्वरूपों की होती है जो कि सीमित समूह के सदस्यों के लिए कुछ स्तर या सीमाओं को मानती है और इसकी अति सीमा तक जिसमें यह प्राप्त हो किसी के लिए क्या उचित हो यह बिल्कुल ही वैयक्तिक विषय है अत: स्तर या सीमा का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। "सापेक्ष नीति विज्ञान यह भी निर्धारित करता है कि नैतिक स्तर वातावरण या परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं"[1] आत्मपरक नीति विज्ञान के अन्तर्गत सामाजिक दायरे में मनुष्य के कार्यों और नैतिक निर्णयों आदि को समाहित किया जाता है। प्रकृतिवादी नैतिक सिद्धान्तों में यह प्रस्थापित किया जाता है कि अच्छे नियम और कार्य वही हैं जो उनके इच्छुकों को संतुष्टि प्रदान करने में सहायक हों। इसके अतिरिक्त हम नीतिशास्त्र में, सौन्दर्य-शास्त्रीय मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, नैतिक पक्षों को भी आंक सकते हैं।" सौन्दर्यशास्त्र कला के सृजन, धारणा तथा प्रेक्षणीयता, कौशल तथा अनुशीलन कला संबंधित प्राकृतिक गुणों से नजदीक का संबंध रखता है।"[2] अत: हम नीतिशास्त्र का सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष उस विशिष्ट स्थितियों में ही समझ सकते हैं जब हम शुभत्व या सुख के सौन्दर्य के प्रति दुराग्रह को छोड़कर उसके विलोम पक्ष को भी देखें।

क्या साहित्यकार अपने परिवेश के प्रभाव से अछूता रह सकता है? मध्ययुग के महान् कवि अब्दुररहीम खानखाना के काव्य का अध्ययन-मनन करने से हमें निरन्तर यह महसूस करना पड़ता है कि उनका रचित साहित्य भी अपने युगीन वातावरण के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। यह माना जाता है और यह उचित भी है कि प्राचीन भारतीय साहित्य की दृष्टि कहीं न कहीं (वस्तुत:) लोकमंगल वाली रही है। यहां के कवि केवल कलाकार ही नहीं थे अपितु समाज के आदर्श और उन्नति के लिए आवश्यक नियमों और नीतियों का भी निरूपण करते थे। संस्कृत भाषा में प्रमुखतया नीति और उपदेश के विषयों पर काव्य कृतियों का निर्माण हुआ है। ऐसे ही हम हिन्दी साहित्य में नीति तत्व को प्रचुर मात्रा में पाते हैं। भक्तिकाल और रीतिकाल के संधिकाल में नीतिकाव्य का स्वतंत्र विकास आरम्भ हुआ। इस संधिकालीन साहित्य में नीति तत्व को महत्त्व देने वाला कवि रहीम ही था। "रहीम ने लोगों के व्यावहारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सिद्धान्तों के नीति दोहों का सफल प्रस्तुतीकरण किया।"[3]

---

1. An Introduction to Ethics ; William Lillie Page 108
2. सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन ; डा० रमेश कुन्तल मेघ ; गुरु नानक देव युनिवर्सिटी अमृतसर, 1975.
3. हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल और रीतिकाल—संधिकालीन प्रवृत्तियां ; विष्णुशरण इन्दु ; विभू प्रकाशन साहिबाबाद (मेरठ), 1975, पृ० 206.

"नैतिकता समाज के कुछ तत्वों से जुड़ी होती है यथा व्यक्तियों की प्रकृति के विश्वासों से, आदर्शों के बारे विश्वासों से कि हमारे लिए क्या शुभ और इच्छुक है, नियमों से, हमें क्या करना चाहिए या क्या नहीं ? उद्देश्य जो हमें प्रेरित करते हैं चुनाव करने में कि क्या बुरा है और क्या अच्छा ? असंबधित नैतिकता नियमों की उपेक्षा आदर्शों पर अधिक बल देने को प्रोत्साहित करती है।"[1]

इसी भांति रहीम ने भी नैतिकता के क्षेत्र में समाज में लौगों की प्रकृति और विश्वास की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने अपने काव्य में हिन्दु मुस्लिम मैत्री का भाव प्रकट किया है। रहीम ने उस समय के समाज के लोगों को चेतावनी देते हुए कहा है—

> "रहिमन तहां न जाइए, जहां कपट को हेत
> हम तन डारत ढेकुली, सींचत अपनो खेत।"

(अ) **हिन्दू मुस्लिम मैत्री**—

भारतीय संस्कृति के स्तम्भ माने जाने वाले महान् प्रतिभाशाली कवि तुलसीदास से इनके गहरे संबंध थे। हिन्दु धर्म की वैष्णव शाखा के पुष्टि मार्गीय आचार्य श्री गोस्वामी बिठ्टलनाथ का भी रहीम पर प्रभाव पड़ा। अत: कई दोहों में इन्होंने उनके आराध्य का उल्लेख किया है :

> "जो बड़ैन को लघु कहौं, नहिं रहीम घटि जाहि।
> गिरिधर मुरलीधर रहे, दुख कछु मानत नाहिं ॥[2]

हिन्दुओं से अच्छे संबंध होने के कारण ही उनके विश्वासों में हिन्दुत्व की झलक मिलती है। हिन्दुओं के सदृश ही उन्होंने उसी पतितपावनी गंगा की निर्मल छटा का अवलोकन किया था।

(आ) **गृहस्थ और सहज दृष्टि**—रहीम का गृहस्थ जीवन भी इतना सुखद नहीं था। गृहस्थ जीवन के कुछ अनुभवों से भी उन्होंने कुछ रचनाओं का संकलन करने का प्रयास किया। उन्होंने कुल के सपूत का उदाहरण लेकर इस प्रकार कहा है—

> "जो रहीम गति दीप की, कुल सपूत की सौई।
> बड़ो उजेरों तेहि रहे, बढ़े अंधेरो होइ।"

---

1. एनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी : वालयम 7 : पृ० 150
2. रहीम कवितावली : सुरेन्द्रनाथ तिवारी : पृ० 9 रामकुमार प्रेस बुक डिपो लखनऊ—1956

बेटे के बारे में रहीम ने एक और स्थिति पर इंगित किया है—

"रहिमन जाके बाप को, पानि न पीवै कोई।
ताकि गैल अकास मैं, क्यो न लालिमा होई।"[1]

(इ) **सामाजिक आचार विचारों से रूपकों का चयन**—रहीम जनसामान्य की हितकारी नीति को लोकभाषा में ही अभिव्यंजना करना चाहते थे। इस आकर्षित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में लोगों के आचारों विचारों में से ही रूपकों का चयन किया। जनसामान्य तक अपनी वाणी पहुंचाने का यह विश्वासपूर्ण साधन है। उन्होंने पूरे मनुष्य के बारे में कुछ दोहे प्रतिपादित किये हैं—

"खीरा को मुंह काटि कै, मलियत नमक लगाय
रहिमन करुवे मुखन को, चाहियत यही सजाय।"

इसी तरह बुढ़ापे में शादी करने वालों पर व्यंग्य किया है :

"कमला थिर न रहीम, यह सोच कहत सब कोय
पुरुष पुरातन की वधु, क्यों न चंचला होय।"

(ई) **धार्मिक और लौकिक विश्वास** :—कवि की वाणी में उस युग के धार्मिक और लौकिक विश्वासों का पुट हम सहज ही खोज सकते हैं। इसी तरह रहीम की नैतिक चेतना में भी धार्मिक और लौकिक विश्वास आभासित होते हैं। "लौकिक धार्मिक विश्वास धर्म गाथाएं, कहावतें पहेलियां आदि सभी लोक वार्ता के अंग हैं।"[2] कुछ दोहों में ईश्वर की करुणा पर उनका विश्वास द्रष्टव्य है :—

"काम कछु आवै नहीं, मोल न कोऊ लेई
बाज टुटे बाज को, साहेब चारा देई।"

उन्होंने निराकार प्रभु की सत्ता को यूं अभिव्यक्त किया है :

"अमरबेलि बिन मूल की प्रतिपालित है ताहि
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि।"[3]

---

1. वही : पृ० 24—रहीम कवितावली—सूरेन्द्रनाथ तिवारी : रामकुमार प्रेस बुक डिपो—लखनऊ—1956
2. भारतीय नीति काव्य परम्परा और रहीम : डॉ० बालकृष्ण अंकिचन : पृ० 333
3. रहीम कवितावली—सुरेन्द्रनाथ तिवारी।

इसी तरह लौकिकता को भी लाने का प्रयास किया गया है :—

"कागद सो पूतरा सहजोई में धुलि जाय
रहिमन यह अचरज लखो, सोऊ खैंचत वाम।"

रहीम भक्ति, दर्शन तथा वैराग्य जैसे तत्त्वों की अभिव्यंजना में घोर लौकिक तथ्यों का सहारा लेते प्रतीत होते हैं :—

रहिमन यह तत सूप है लीजै जगत पछोर
हलुवन को उहि जान दे, गरुए राखि बटोर

(ग) रहीम के नैतिकता के क्षेत्र :

1. **प्रकृति** :—प्रकृति संवेदनशील मानव को द्रवित करने में आग और मोम सा काम देती है। कवि हृदय प्रकृति को निहार कर कुछ न कुछ अवश्य ही देता है। मानव को अपने विकसन से ही प्रकृति का सामीप्य प्राप्त है। उषा, संध्या, पुष्प, निर्झर आदि की अवस्था के कारणों पर सोचते-सोचते वह दार्शनिक बन गया। डॉ० किरण कुमारी गुप्ता ने ईश्वर की कारीगिरी को प्रकृति तथा पुरुष की कारीगिरी को कला' माना है और "प्रकृति के सभी सुन्दर और असुन्दर रूपों का काव्य में स्थान देने की विस्तार से चर्चा की है।"[1] इसी से आगे चल नैतिक शिक्षा ग्रहण करने की परम्परा चली। रहीम के काव्य में प्रकृति के बहुत से उपकरण प्राप्य हैं, जिनसे उन्होंने नैतिक चेतना को प्राप्त किया। जैसे—'नीरशी, चन्द्रनखत, चन्द्र-चकोर, दापुर मोर आदि। उनका काम था प्रकृति के क्रियाकलापों को देख कर नैतिक संदेश प्रकट करने का। जैसे—समुद्र का प्रतीक :—

"धनि रहीम जल पर को लघु जिय पियत अघाय
उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासो जाय।"[2]

इसी प्रकार मित्रता की नैतिकता को ऐसे प्रकट किया है :

मथत-मथत माखन रहे, दही मही बिलगाय
रहिमन सोई मीत है, भीर परे ठहराय।

प्रकृति वर्णन बहुत कुछ मनुष्य की मनोवृत्तियों और भावनाओं पर आधारित होता है। इसी तरह रहीम ने भी प्रकृति को आलंबन और उद्दीपन उपदेशात्मक

---

1. भारतीय नीति काव्य परम्परा और रहीम : डॉ० बाल कृष्ण अंकिचन : पृ० 350
2. रहीम कवितावली—सुरेन्द्र तिवारी : पृ० 21

रहस्यात्मक आदि रूपों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।' प्रकृति के इन सब रूपों को हम इनके नीति काव्य में ढूंढ सकते हैं।

प्रकृति का आलंबन रूप :—

"दोनों रहिमन एक से, मौं लौं बोलत नांहि
जान परत है काक पिक, ऋतु बसन्त के मांहि।"

मानव के हृदयस्थ भावों को भी प्रकृति उद्दीप्त करती है। नीतिकाव्य में शृंगार के संयोग वियोगादि का अवसर अत्यन्त सीमित होने के कारण रहीम की दोहावली में उद्दीपनात्मक प्रकृति वर्णनों की संख्या थोड़ी ही मिलती है। जैसे—रजनी भावों के उद्दीपक रूप में आती है :—

"रहिमन रजनी ही भली, प्रिय सो होय मिलाप
खारौ दिवस केहि काम कौ, रहियौ आपुहि आप।"

रहीम ने प्रकृति की उपदेशक के रूप से भी अभिव्यंजना की है। आंग्ल कवि प्रकृति को सब कुछ मानते थे। प्रकृति के नानावस्तु व्यापारों का रहीम ने अपने भव्य उपदेशात्मक रीति से प्रयोग किया है—

'रहिमन आलस भजन में, विषय सुखहिं लपटाय
घास चरै पशु स्वाद ते गुरु गुलियाये खाय'
'मानसरोवर ही मिलै हंसनि मुकुता भोग
सपारिन भरे रहीम सर, वक बालकीहिन जोम'[1]

रहीम ने गृहस्थ के क्षेत्र में से भी नैतिकता के प्रतीक ढूंढ निकाले। उन्होंने गृहस्थ जीवन के बारे में भी कुछ नीति के दोहे लिखे :

"कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय
पुरुष पुरातन को वधु क्यों न चंचला होय।"

"रहीम ने वैवाहिक जीवन को व्याधि और पांव की बेड़ी कहा है, क्योंकि वही धन और माया के चक्कर में इतना फंस जाता है, कि वह मौत को भी भूल जाता है।" फिर भी उन्होंने गृहस्थ जीवन के मार्मिक विषयों को छुआ है।[2]

"रहिमन अंसुआ नैन डरि, जिय दुख प्रगट करैइ
जाहि निकारों गैह तै, कस न भेद कहि देई।

---

1. वही : पृ० 27 रहीम कवितावली-सुरेन्द्र तिवारी
2. भारतीय नीति काव्य का विकास, डॉ० रामसरूप शास्त्री : रसिकेश पृ० 274 दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली-1962

रहीम ने अपने इर्द-गिर्द के सामाजिक हालात को अच्छी तरह परखा। उन्होंने लोगों के व्यवहार, उनमें गौरव और सम्मान की लालसा का भी अवलोकन किया। उन्होंने संगति कुसंगति में नैतिकता को दिखाया है :—

"जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग
चंदन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग।"[1]

रहीम कवि होने के साथ-साथ एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में से भी नीतिपरक दोहों को जन्म दिया। राजा और आश्रयदाता सम्बन्धी एक दोहा ही लीजिए :—

"रहिमन जो रहियों चहै, कहै वाहि के दांव
जो वासर को निसि कहै, तो कचपक्षी दिखाव।"

इसी तरह राजनीति की चालों को भी उन्होंने नीतिपरक कथनों द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया :—

"जो रहीम ओछो वहै, तो तितही इतराहि
पयादे तैं फरजी भलो, टेड़ो-मेडो जाए।"[2]

रहीम शूरवीरता के प्रशंसक थे अत: उन्होंने महाराणा प्रताप की वीरता की प्रशंसा अकबर के सामने इस प्रकार एक ही दोहे में प्रतिपादित की :—

"भ्रम रहसी रखसी धरा, खिसि जासे खुरसाण
अमर विसकार उपरै, राखियों निहचै राण"

2. **धर्म** :—रहीम कट्टर शिया मुसलमान होते हुए भी हिन्दुत्व पर दृढ़ विश्वास रखते थे। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में काव्य के जितने भी प्रेरणा स्रोत लिये उन सब को नीति समन्वित करके अपने काव्य में स्थान देने का यत्न किया। उन्होंने अभ्यास भक्तिकालीन कवियों की भांति अपने काव्य को कोरे आत्मनिवेदन या रामकृष्ण आदि के रूप वर्णन तक ही सीमित नहीं किया उन्होंने भक्ति भावों को नीति समन्वित किया। एक दोहे में अपने भावों द्वारा यह प्रकट करने का प्रयास किया है सामान्य से व्यक्ति भी हार्दिक प्रेम के बल पर महान् से महान् व्यक्ति को वश में कर सकता है— ईश्वर भी प्रेम द्वारा वश में किया जा सकता है :—

"रहिमन मनहिं लगाय कै दैखि लेहु किन कोय
नर को वस करिवो कहा, नारायण बस होय"

---

1. रहीम कवितावली-सुरेन्द्र तिवारी
2. वही : पृ० 8

इसी तरह रहीम ने रामायण, भगवद् गीता और पुराणों से कथाओं को लेकर नीति के दोहों में आभूषण रूप जड़ने का प्रयास किया। ये सब उसकी हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति, अभिरुचि के कारण ही है। उन्होंने लक्ष्मण से संबोधित कथा को यूं लिया है :—

"मांगने का औचित्य प्रतिपादित करते हुए वे लक्षमण द्वारा परासर मुनि से नाव मांगने का उल्लेख करते हैं।"[1]

इसी तरह भगवद् गीता में से भी कुछ कथन लेकर उनको नीति के सांचे में ढाला है :—

यथा :—

"महि नभ सर, पंर्वज कियो, रहिमन बल अवशेष
सो अरजुन वैराट घट, इहै नारि वेष।"

इन सब से उनके धार्मिक अध्ययन की गहनता का आभास होता है क्योंकि किसी ज्ञान को जब तक पूर्णत: पचा नहीं लिया जाता तब तक हम उनको किसी दूसरे विषय में स्थानांतरित नहीं कर सकते।

निष्कर्ष रूप में हम रहीम के काव्य की नैतिनकता में सभी क्षेत्रों का सारांश पूर्ण रूप से अभासित कर सकते हैं। उनके काव्य में नैतिकता से अलग करना असम्भव जान पड़ता है। आधुनिक युग की साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीय एकता, धार्मिक सद्भाव हेतु उनका सही मार्ग-दर्शक सिद्ध हो सकता है।

(पुस्तकाध्यक्ष, सरकारी कालेज, ज़ीरा, फिरोज़पुर)

---

1. वही : पृ० 100

पंजाब का प्रथम हिन्दी रीति भक्ति कवि : भाई गुरदास जी

—डॉ० निर्मल कौशिक

गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य के प्रथम हस्ताक्षर हिन्दी, संस्कृत और पंजाबी के विद्वान् भाई गुरदास पंजाब में रचित रीति कालीन हिन्दी-साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ कवि हैं। भाई गुरदास बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। आप सिक्ख धर्म के अनन्य शिष्य, सच्चे गुरु सेवक, अनुपम अनुयायी, आदर्श प्रचारक तथा निष्काम भक्त थे। इतना ही नहीं आप एक आध्यात्मिक निष्ठावान् कवि, सम्पादक, व्याख्याता और उपदेशक भी थे। आपके अन्दर गुरु के लिए अटूट और असीम श्रद्धा थी। आप का साध-संगत में दृढ़ विश्वास था। गुरवाणी आपके लिए अद्वितीय प्रकाश का कोश थी। गहरे विश्वासों ने काव्य रचना के लिए आपको प्रेरणा दी।[1] देश-देशान्तरों के भ्रमण से आपने बहुत कुछ सीखा। आपने अनेक विद्वानों से सम्वाद करके अनेक बातों का खण्डन-मण्डन किया। आपका ज्ञान अधिकांशत: अनुभवाधारित है। काशी में रहकर आपने संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा आगरा में रहकर ब्रजभाषा सीखी। आपने पंजाबी, संस्कृत और ब्रज तीनों भाषाओं में काव्य रचना की। भाई गुरदास जन्म सिद्ध कवि थे, बुद्धि अपूर्व थी, प्रकाश अनुपम था। आप भी उन उच्च दृष्टियों में से एक थे, जिनका समय-समय पर किसी न किसी स्थान पर प्रकाश होता रहता है, जो विद्या की अधिष्ठाता होती है।[2] आप बचपन से ही गुरुचरणों के सेवक रहे। तब से ऐसी लग्न लगी, जो आजीवन टूट न सकी। आपकी लग्न, निष्ठा और विद्वत्ता आपकी रचनाओं में स्पष्ट झलकती है। आपकी रचनाएं गुरमत काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। आपने अपनी रचनाओं में गुरमत के सिद्धान्तों का मुक्त कंठ से प्रचार एवं प्रसार किया। अत: कहा जा सकता है कि गुरुघर में भाई साहिब का वही पद है, जो हिन्दू धर्म में वेदव्यास और श्री शंकराचार्य तथा ईसाई धर्म में सेंट पाल का है।[3]

---

1. तारन सिंह, भाई गुरदास, पंजाबी साहित दा इतिहास, सम्पादक सुरिन्दर सिंह कोहली, चण्डीगढ़ : पंजाब यूनिर्वसिटी, 1973, पृष्ठ 342।
2. सरदूल सिंह, भाई गुरदास (पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1961) पृष्ठ 5।
3. भाई गुरदास, कवित, सवैये, सटीक, सम्पादक ज्ञानी बिशन सिंह, अमृतसर : जवाहर सिंह कृपाल सिंह एण्ड का०, 1973, भूमिका।

आपकी रचनाएं पूर्णत: गुरमत सिद्धान्तों की व्याख्या करती हैं अगर आपके कवित्त, सवैये आपकी यथार्थानुभूति के आधार पर सत्य के अधिक निकट कहे जा सकते हैं, तो आपकी वारों को गुरवाणी का भाष्य होने का गौरव प्राप्त है। इनकी संस्कृत रचना 'वाहिगुरु-स्तोत्र' इनकी तर्क शक्ति का अनन्य प्रमाण है।

भाई गुरदास जी का जन्म सन् 1551 ई० (सम्वत् 1608) के लगभग मल्ला (खत्री) परिवार में हुआ। उनके पूर्वज ज़िला अमृतसर बासरके गांव के निवासी थे। इसी वंश परम्परा में गुरु अमरदास हुए तथा ईशर दास और दातार चन्द इनके चाचा की सन्तान थे। भाई गुरदास जी के पिता का नाम दातार चन्द था। कुछ विद्वानों के मतानुसार...गुरु जी के चाचा चन्द्रभानु के घर दो बालक दातारचन्द और ईशरदास पैदा हुए। इसी ईशरदास के इकलोते पुत्र भाई गुरदास जी हैं।[1] इस प्रकार भाई गुरदास गुरु अमरदास जी के भतीजे थे। गुरु जी का आप से बचपन से ही अपार स्नेह था। आपके माता-पिता भी गुरु घर के अनन्य सेवक थे। आप ने बचपन में ही आपनी माता के साथ कई तीर्थ स्थलों की यात्रा कर ली थी। आप बचपन से ही गुरु-चरणों के आश्रय में रहे। अभी आप तीन वर्ष के ही थे कि आपके पिता जी स्वर्ग सिधार गए......पिता के गुरपुरी सुधारने से स्वत: सिद्ध ही पालना, सम्भालना, पढ़ाना, लिखवाना, गुरु जी की सरपरस्ती के नीचे होना था।[2] जब गुरु अमरदास जी ने गुरु अंगद जी की आज्ञा से गोइंदवाल की स्थापना की, तो सारा गुरु परिवार वहां आकर रहने लगा। अत: भाई गुरदास का बचपन गोइन्दवाल में ही बीता। वहां के सम्पूर्ण आध्यात्मिक वातावरण का प्रभाव भाई गुरदास पर भी पड़ना स्वभाविक ही था। सो यहां यह होनहार बिरवा फूटती मसूमदी उमर में गुरमुखी, हिन्दी, संस्कृत, फारसी आदि विषयों से हरियाला हो गया तथा शास्त्रों, उपनिषदों पुराणों के परिचय से अति प्रफुल्लित हो गया।[3] आप गुरु घर के वातावरण में पूरी तरह रंग गए। आप हरमन प्यारे हो गए। आपकी विद्वता की धाक चारों और फैल गई। भाई गुरदास गुरु घर की सेवा भी करते और-बाहर प्रचार भी करने जाते। भाई गुरदास हर प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के योग्य थे। अच्छे बुद्धिमान, समझदार, अनुभवी

---

1. रणधीर सिंह, भाई दास भल्ले दा जीवन, पंजाबी दुनिया भाई गुरदास विशेषांक, सम्पा० लाल सिंह (पटियाला : भाषा विभाग, पंजाब, 1968), पृष्ठ 2।
2. सरदूल सिंह, भाई गुरदास (पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1961) पृष्ठ 6
3. भाई गुरदास, कवित्त भाई गुरदास दूसरा स्कन्ध सम्पा० भाई वीर सिंह (अमृतसर : खालसा समाचार, 1980), पृष्ठ 27।

कसी हुई गांठों को खोलने वाले गुरमुखी गुर सिक्ख थे। सतगुर जी की बखशिश (कृपा) आपके साथ थी। आपके श्री गुरु अमरदास जी, गुरु रामदास जी, गुरु अर्जुन देव जी और गुरु हर गोबिन्द राय जी के साथ निकट सम्बन्ध थे।[1] भाई गुरदास लगभग 90 वर्ष तक तृतीय गुरु अमरदास जी से लेकर छठे गुरु हरगोबिन्द राय तक गुरु घर के सम्पर्क में रहे। इसी सम्पर्क से उन्होंने गुरु काव्य, गुरु दर्शन तथा गुरमत का प्रचार कर अपने लक्ष्य की पूर्ति की।

जब भाई जेठा को गुरु घर का निष्ठावान् सेवक जान कर उन्हें गुरु गद्दी का अधिकारी मान कर गुरु अमरदास जी का स्वरूप जान कर उनके ज्योति-ज्योत समा जाने पर गुरु गद्दी पर सुशोभित किया गया तो भाई गुरदास जी ने अपने सिक्खी प्रचार के कर्त्तव्य को पहले से भी अधिक विकसित किया। चतुर्थ गुरु रामदास (भाई जेठा) के आदेश पर आपने सिक्ख धर्म के प्रचार के साथ-साथ गुरबाणी को एकत्र करने का काम भी किया। आप लोगों की संशयनिवृत्ति भी करते और उन्हें अपनी रचनाओं द्वारा मन्त्र मुग्ध भी।...श्री गुरु रामदास जी के गुरुआई के सात वर्षों में भाई साहिब जी की कई छोटी-बड़ी उदासियां थीं। आपको दिन-रात सेवा और गुरबाणी एकत्र करने की लग्न थी।[2] इतना ही नहीं, आप बाहर रहते हुए भी गुरु घर के प्रत्येक कार्य में तन्मयता से भाग लेते थे। उन्होंने गुरुओं द्वारा बनाए गए भवनों एवं बसाए गए नगरों में भी पूर्ण तन्मयता से हाथ बटाया। उन्हें भवन निर्माण कला का भी पूर्ण ज्ञान था। 1609 ई० में अकाल तख्त भवन के निर्माण हेतु गुरु हरगोबिन्द साहिब ने महान गुरसिक्खों की सेवा प्राप्त की थी और वे थे भाई गुरदास जी और बाबा बुड्डा जी।[3] भाई साहिब की योग्यता और प्रतिभा के बल पर ही उन्हें गुरु घर के प्रत्येक कार्य के लिए नियुक्त किया जाता था। भाई साहिब भी सौंपे गए प्रत्येक कार्य को अत्यन्त लग्न, परिश्रम व निष्ठा से पूर्ण करते।

भाई गुरदास गुरबाणी के सर्वश्रेष्ठ प्रचारक सिद्ध हुए। आपकी रचनाओं में गुरबाणी के संकेतों, प्रतीकों, सिद्धान्तों, कथाओं की स्पष्टता मिलती है। उन्होंने गुरबाणी के भेदों, सिद्धान्तों, गूढ़ रहस्यों, भावनाओं को स्पष्ट किया। कठिन पदों के

---

1. सरदूल सिंह, भाई गुरदास (पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1961) पृष्ठ 80।
2. सरदूल सिंह, भाई गुरदास (पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1961), पृष्ठ 10-11।
3. दलीप सिंह, भाई गुरदास, (पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1981), पृष्ठ 13।

कोशमयी अर्थ दिए । पारिभाषिक शब्दों की भावना दर्शायी ।[1] आपकी व्याख्या केवल कठिन शब्दों के अर्थ ही नहीं बल्कि भावों की गहनता को स्पष्ट करने में पूर्णतया समर्थ है । उन्होंने गुरवाणी की एक नई व्याख्या पद्धति अपनाई । उनके द्वारा प्रतिपादित व्याख्या प्रणाली भाई प्रणाली के नाम से आज भी प्रचलित है । आप सिक्ख धर्म के मध्यकालीन सर्वोच्च भक्त कवियों में से एक हैं । आप ने अपनी रचनाओं में गुरमत के दार्शनिक सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा की है । आपकी रचनाएं दार्शनिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही, उनका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है । ब्रज के व्याकरणाश्रित इनके कवित्त सवैये, गुरुमुखी लिपि में होने के कारण अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं । जो हिन्दी साहित्येतिहास के लिए भाई गुरदास की अनुपम निधि है ।

प्रथम हिन्दी साहित्येतिहास लेखक गार्सा द-तासी ने अपने इतिहास में सर्वप्रथम भाई गुरदास के काव्य का उल्लेख करते हुए उन्हें गुरु नानक का अनुयायी कहा है और उनका नाम गुरदास वल्लभ (भाई) लिखा है । उसके अनुसार...भाई गुरदास वल्लभ एक सिक्ख लेखक हैं, जिन्होंने नानक के धर्म पर सुन्दर कविताएं रची हैं ।[2] ......इन कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी हुआ है । भाई गुरदास पूर्ण गुरसिक्ख थे और सिक्ख मत के सैद्धान्तिक नियमों को अच्छी प्रकार जान चुके थे । जीवन की अनुभूति के माध्यम से उन्होंने अपने गुरमत प्रचार कार्य को लोकप्रिय बनाया । विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपनी प्रतिभा-शालीनता और दार्शनिकता की धाक जमाई । आप ने अपनी मौलिक वाणी द्वारा अपने दैनिक जीवन की घटनाओं और अनुभवों को अपनी रचनाओं में साकार करके गुरमत-काव्य और प्रचार में श्री वृद्धि की । अब तक के अनुसन्धानों के आधार पर भाई गुरदास (मल्ला) की निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध होती हैं :

1.	वारां (ज्ञान रत्नावली)	संख्या 39 (पंजाबी)
2.	वाहिगुरु स्तोत्र	संस्कृत
3.	कवित्त सवैये	ब्रजभाषा (कुल 675)

इसके अतिरिक्त भाई गुरदास जी आदि ग्रन्थ श्री गुरु ग्रन्थ साहिब के लिपिक भी रहे और उन्होंने उसके सम्पादन में महत्त्व पूर्ण भूमिका निभाई ।

---

1. तारण सिंह, गुरवाणी दीआं व्याख्या प्रणालियां (पटियाला : पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1980), पृष्ठ 48 ।
2. गार्सा द-तासी, हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनु० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी अकादमी, 1953), पृष्ठ 54 ।

पंचमेश गुरु अर्जुनदेव के गुरुगद्दी पर बैठते ही ईर्ष्यावश उनके शत्रुओं ने उन्हें असफल बनाने हेतु उनके विरुद्ध प्रचार कार्य आरम्भ कर दिया। इनमें उनका बड़ा भाई पृथीमल भी एक था। उसने कई बार आपको मारने की भी चेष्टा की। मगर गुरु जी को आरम्भ से ही परमपिता परमात्मा की भक्ति की अटूट लग्न थी। अतः आप डरते न थे। आप का सारा जीवन सहनशीलता और नम्रता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। बड़े भाई पृथीमल की ईर्ष्या को प्रेम से सम्भाला और कभी भी मन में उनके प्रति विपरीत भाव नहीं लाए।[1]

पृथीमल ने गुरमत प्रचार के साथ-साथ गुरु अर्जुन देव के विरुद्ध प्रचार आरम्भ कर दिया। भाई गुरदास जैसे गुरु निष्ठ सिक्खों को यह अच्छा न लगा। उन्होंने गुरु जी को सुझाव दिया कि आप इसका कोई उपाय सोचें। गुरु जी ने अपने शिष्यों को देश देशान्तरों से सभी गुरुओं, पीरों, सन्तों भक्तों की वाणी आमन्त्रित करने का आदेश दिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। भाई गुरदास तीसरे गुरु अमरदास के समय से ही गुरवाणी एकत्र करने में जुटे हुए थे। संवत 1601 में गुरु अर्जुन देव ने सभी धर्मों, जातियों, प्रान्तों के सन्तों, भक्तों, गुरुओं की वाणी का अध्ययन कर उसमें से गुरमत भावानुकूल बाणी का एक संकलन तैयार करने का विचार किया, जिसका नाम......गुरु ग्रन्थ साहिब रखा। इसे सिक्ख धर्म का आदि ग्रन्थ भी कहा जाता है। यह एक महान कार्य था, जिसे गुरु अर्जुनदेव ने अत्यन्त निष्ठा से निभाया। यह कार्य 1604 में सम्पन्न हुआ।

दस गुरुओं की परम्परा अपने आप में एक उदहारण है। इन गुरुओं ने लगभग गुरमत के सिद्धान्तों की ही दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर सिक्खमत के आदर्शों को जन-जन तक पहुँचाया। उन्हें जो अच्छाई यहां से मिली, ग्रहण की। सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक सिक्ख गुरु परम्परा के प्रथम गुरु नानक देव ने निर्गुण सन्तों के समान अपनी अनुभूति को ज्ञान के बल पर अभिव्यक्त न करके सगुण भक्ति-वाद में से भक्तितत्व को ग्रहण कर अपनी साधना को भक्ति मूलक बनाया मगर एकेश्वरवाद, कर्मकाण्ड की निन्दा, आडम्बरों का विरोध, छुआ-छूत का विरोध, समता का भाव सामाजिक रूढ़ियों की खण्डन पद्धति निर्गुण का प्रचार सन्तों के समान ही किया। इसका अनुसरण करते हुए ही पंचम गुरु अर्जुन देव ने निर्गुण मतावलम्बी सन्तों, भक्तों, गुरुओं की सार्थक एवं उपयोगी वाणियों का संकलन करके भाई गुरदास से आदि ग्रन्थ का लेखन एवं

1. साहिब सिंह अरशी, सुखमनी साहिब का आलोचनात्मक अध्ययन, (जीन्द : अरोड़ा पब्लिशर्ज 1973), पृष्ठ 3।

सम्पादन कराया।[1] आदि ग्रन्थ के सम्पादन में भाई गुरदास का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाई गुरदास को ही आदि ग्रन्थ लेखन के लिए लिपिक के रूप में क्यों चुना गया ? इसके दो प्रमुख कारण थे......प्रथम तो यह कि वह एक महान विद्वान, प्रतिभावान् दार्शनिक तथा गुरमत के निष्काम प्रचारक थे। उनका सन्तों-सा जीवन इस कार्य के लिए अत्याधिक अनुकूल सिद्ध हुआ। दूसरा यह कि उन्होंने बहुत पहले से ही गुरवाणी का संकलन और व्याख्या का कार्य आरम्भ कर दिया था। अत: उन्हें इस काम की पूर्ण सूझ थी। सिक्ख गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त उन्होंने कबीर, नामदेव, रविदास, फरीद, सूरदास, सदना, पीपा आदि सन्तों और भक्तों की वाणियों को भी संकलित करने में सहयोग दिया। गुरु अर्जुन देव के आदेशानुसार भाई गुरदास ने अपने हस्तलेखन से शेख फरीद से लेकर 600 वर्षों की साहित्यिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परम्परा को एक सूत्र में पिरो दिया। देश के विभिन्न प्रान्तों के कवियों की वाणी का यह अद्वितीय संकलन आज भी विश्व के साहित्य में राष्ट्रीय एकता का प्रतीक होने का पुष्ट प्रमाण है। गुरु अर्जुन देव जी ने भाई गुरदास के हाथों इस पुण्य कार्य को अत्यन्त सुचारु ढंग से पूर्ण कराया। महापुरुषों की वाणी को संकलित करके एक तरफ उन्होंने उनके अपार सन्देश को जन-जन तक पहुंचाने का अनूठा कार्य किया, तो दूसरी तरफ एक अमीर विरासत को युगों-युगों तक जीवित रखने का सफल प्रयास किया।

पहले कहा जा चुका है कि पंचमेश गुरु अर्जून देव के द्वन्द्वी भाई पृथ्वीमल ने (पृथीमल) ने गुरु जी के विरुद्ध प्रचार कार्य आरम्भ कर दिया था। पृथीमल के पुत्र मनोहर ने गुरुओं की वाणी की नकल के रूप में एक ग्रन्थ तैयार करने के लिए वाणी संगृहीत करनी आरम्भ की। तभी गुरु अर्जुन देव जी ने गुरुओं की असल वाणी का एक ग्रन्थ सम्पादित करने की सोची। कई वर्षों की घालना (परिश्रम) के पश्चात् जब सारी वाणी इकट्ठी हो गई, तब तक उसे संशोधित कर और रागों के अनुसार क्रम देकर अन्तिम रूप में लिखने का काम भाई गुरदास के सुपुर्द कर दिया गया।[2] भाई गुरदास तीसरे गुरु के समय से ही गुरुओं की वाणी का संग्रह करने में लगे हुए थे। गुरमत का प्रचार करते समय वे गुरवाणी द्वारा सिक्ख संगतों को निहाल करते थे। भाई गुरदास की विद्वत्ता और प्रतिभा का प्रभाव गुरु जी पर पड़ चुका था और गुरु घर के सर्वप्रिय सेवक व गुरवाणी प्रेमी और वाणी को गहराई से जानने वाले भाई

1. प्रेम प्रकाश सिंह, गुरु नानक ते निर्गुण विचारधारा (पटियाला : भाषा विभाग, पंजाब, 1973), पृष्ठ 34।
2. रत्न सिंह जग्गी, भाई गुरदास जीवनी ते रचना (पटियाला : पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1974), पृष्ठ 18।

गुरदास सहर्ष गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर इस पुण्य कार्य में जुट गए। जिन दिनों यह संकलन (बीड़) तैयार हो रहा था, उन दिनों भाई गुरदास और गुरु अर्जुन देव जी अमृतसर की दक्षिण दिशा के निर्जन प्रान्त में रामसर के स्थान पर बैठ गए। तम्बू लगा कर जंगल में मंगल मनाया। उस एकान्त वातावरण में गुरु जी ने भाई गुरदास से इस संकलन का लेखन कार्य करवाया। उन सभी सन्तों, भक्तों की वाणी जो गुरमत सिद्धान्तों के अनुकूल थी, उसमें दर्ज की गई। क्योंकि निर्गुण वादी सिक्ख काव्य में वही कवि शामिल माने जाते हैं, जिनका दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोण गुरु नानक की विचारधारा का अनुसरण करने वाला है और जिनकी काव्य कला गुरु-काव्य की शैली से बल प्राप्त करती है।[1] इस महान् कार्य के लिए एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो इस विषय में पूर्ण रूप से सूझ रखता हो। भाई गुरदास गुरु जी की दृष्टि में इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त थे। क्योंकि अपने प्रचार कार्य के दौरान भाई साहिब अनेक सन्तों, भक्तों की विचारधाराओं से परिचित हो चुके थे। अनेक शास्त्रार्थ कर चुके थे। गुरबाणी की व्याख्या कर अपनी विद्वता की धाक जमा चुके थे। गुरु जी की पैनी दृष्टि ने इसे सुपात्र जान कर अत्यन्त निष्ठा पूर्वक इसके हाथों इसे सम्पन्न कराने का संकल्प लेकर भाई साहिब को इस कार्य में लगाया। वाणी को संकलित करने का यह प्रयास सचमुच बहुत महान् था और उसे पूर्ण करने हेतु भाई गुरदास का चुनाव भी सराहनीय था। इससे भाई गुरदास के गौरव में बहुत वृद्धि हुई।[2] इससे भाई साहिब को गुरवाणी का विस्तृत ज्ञान हुआ तथा अपनी रचनाओं को पुष्ट करने की सामग्री प्राप्त हुई। यही कारण है कि भाई गुरदास की रचनाएं गुरवाणी की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। उनके सम्पूर्ण काव्य में गुरमत का ही प्रसार है। भाई साहिब ने काव्यभाषा में गुरवाणी की व्याख्या प्रस्तुत कर एक अद्भुत योगदान दिया है। वे केवल गुरवाणी के व्याख्याता ही नहीं हैं अपितु गुरवाणी की व्याख्या प्रणालियों के अग्रदूत भी हैं। उनकी व्याख्या पद्धति का प्रभाव आने वाले व्याख्याकारों पर भी पड़ा।

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब का सम्पादन भारतीय साहित्येतिहास लेखन में एक मील पत्थर है। यह केवल सिक्ख धर्म का ही नहीं अपितु दार्शनिक दृष्टि से सभी भारतीय

---

1. प्रेम प्रकाश सिंह, गुरु नानक ते निर्गुण विचार धारा, (पटियाला : भाषा-विभाग, पंजाब, 1973), पृष्ठ 23।

2. रत्न सिंह जग्गी, भाई गुरदास जीवनी ते रचना (पटियाला : पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1974), पृष्ठ 18।

धर्मों का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह हिन्दी और पंजाबी साहित्य की सीमाओं से मुक्त होकर आज विश्व साहित्य की अमूल्य निधि बन गया है। यही कारण है कि आज विश्व की अनेक महत्त्वपूर्ण भाषाओं में इसका लिप्यन्तरण और अनुवाद हो रहा है। गुरु अर्जुन देव जी ने जिस दूरदर्शिता के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन कराया था, उसका परिणाम आज साक्षात् हमारे समक्ष है। भाई गुरदास की लेखनी ने जिस परिश्रम, निष्ठा, लग्न और उत्साह से इन मोतियों को संजोया है, उनकी शोभा आज विश्वभर में कुसुमित व प्रसारित हो रही है।

इस निष्ठा और श्रद्धा में उनका निजी स्वार्थ किंचित मात्र भी न था। उन्होंने बिना किसी लोभ के इस कार्य में दत्तचित होकर, दिन रात एक करके गुरु जी के आदेशानुसार इस कार्य को सम्पन्न किया। कहा जाता है कि जब इस ग्रन्थ का लेखन कार्य हो रहा था, तब एक दिन गुरु जी ने भाई साहिब से कहा कि तुम भी अपनी वाणी ले आओ, ताकि अन्य भक्तों के साथ दर्ज कर दी जाए। तब भाई साहिब ने प्रार्थना की कि मैं तो आपका और आपके प्रिय भक्तों का दास हूं। दास की वाणी साहिब की बराबरी में नहीं बैठ सकती। श्री गुरु अर्जुन देव जी बहुत प्रसन्न हुए और वर दिया कि तुम्हारी वाणी गुरवाणी की कुंजी होगी।[1] निश्चय ही गुरु जी का वर भाई गुरदास के लिए सार्थक सिद्ध हुआ। गुरमत सिद्धान्तों को समझने और गुरवाणी के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए भाई गुरदास की वारें और कवित्त सवैये गुरवाणी की कुंजी (टीका) का काम करते हैं। वाहिगुरु स्तोत्र (संस्कृत में है) वाहिगुरु शब्द की समुचित एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने में सहायक है।

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब का लेखन कार्य करके भाई गुरदास ने गुरु जी की आज्ञा का पालन तो किया ही, साथ ही सच्चा गुरु सेवक होने का गौरव भी अर्जित किया। ज्ञानान्धकार में भटके कलियुगी प्राणियों के लिए श्री गुरु ग्रन्थ साहिब प्रकाश स्तम्भ के समान है। इसके सम्पादन, संकलन का श्रेय अगर श्री गुरु अर्जुन देव जी को है, तो लिपिक के रूप में लेखन कार्य का श्रेय गुरवाणी के व्याख्याता, गुरमत के प्रचारक, गुरु चरणों के अनन्य सेवक भाई गुरदास (भल्ला) को भी है। अत: कहा जा सकता है कि सम्पादक के रूप में पंचमेश गुरु अर्जुन देव जी के लेखन सहायक तथा सामग्री संकलन हेतु भाई गुरदास द्वारा किया गया प्रयास स्तुत्य है और श्री गुरु ग्रन्थ सम्पादन में लिपिक के रूप में उनका विलक्षण योगदान है।

---

1. भाई गुरदास, कवित्त भाई गुरदास स्कन्ध, सम्पादक भाई वीर सिंह दूसरा (अमृतसर : खालसा समाचार, 1980), पृष्ठ 44।

सहायक पुस्तक सूची

1. अरशी, साहिब सिंह, सुखमणी साहिब दा आलोचनात्मक अध्ययन, जींद : अरोड़ा पब्लिशर्ज, 1973 ।
2. कोहली, सुरिन्दर सिंह, पंजाबी साहित दा इतिहास, चण्डीगढ़ : पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, 1973 ।
3. गुरदास (भाई) कवित्त सवैये सटीक, सम्पादक ज्ञानी बिशन सिंह, अमृतसर : जवाहर सिंह कृपाल सिंह एण्ड कम्पनी, 1976 ।
4. गुरदास (भाई) कवित्त भाई गुरदास स्कन्ध दूसरा, सम्पादक वीर सिंह भाई, अमृतसर : खालसा समाचार, 1980 ।
5. जग्गी, रत्न सिंह, भाई गुरदास जीवनी ते रचना, पटियाला : पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1974 ।
6. तासी, गार्सा द, हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, 1953 ।
7. तारण सिंह, गुरबाणी दीयां व्याख्या प्रणालियां, पटियाला : पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1980 ।
8. दीप, दलीप सिंह, भाई गुरदास, पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1981 ।
9. प्रेम प्रकाश सिंह, गुरु नानक ते निर्गुण विचारधारा पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1973 ।
10. सरदूल सिंह, भाई गुरदास, पटियाला : भाषा विभाग पंजाब, 1961 ।

पत्रिका :

1. पंजाबी दुनियां, भाई गुरदास विशेषांक, सम्पादक लाल सिंह, पटियाला : भाषा विभाग, पंजाब, 1968 ।

(प्रवक्ता : सरकारी बृजेन्द्र कालेज, फरीदकोट)

डा० चरणदास सिद्धू के नाटकों में सामाजिक-चेतना

—प्रो० हरबंस सिंह चाहल

पंजाबी नाटक ने अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद जिन अटूट लगन वाले नाटककारों और रंगकर्मियों की मेहनत के फलस्वरूप उपयुक्त विकास प्राप्त किया है, उनमें डा० चरणदास सिद्धू का नाम अभी नवीन ही है। उनके लिए नाट्य रूप अपने आप में एक उद्देश्य नहीं बल्कि एक माध्यम की भांति है। जिसके द्वारा वह अपनी बात और विचारों को अभिव्यक्ति दे सकें। इसी कारण उनके नाटक रूप की दृष्टि से नये प्रयोग होते हुए भी उनके विचारों को अभिव्यक्त करने वाले साधन मात्र हैं। नकलें, रासलीलाएँ आदि नाट्य शिल्पें तथा दुआबी भाषा के लोक मुहावरों का चुनाव और उनका प्रयोग उनकी अभिव्यक्ति को शक्ति प्रदान करती है। नाटकों का शिल्प इतना लचकीला होता है कि वह विषय की आवश्यकता के अनुसार विकसित होता और बदलता है। इससे विचारों में प्राकृतिकता आभासित होती है और बनावटीपन महसूस नहीं होता। ऐसी सम्पूर्ण और स्वाभाविक अभिव्यक्ति कलाकार के प्रगतिशील दृष्टिकोण और कलाप्रवीणता के संगम से ही संभव हो सकती है। ऐसी स्थिति में दृष्टिकोण और कला प्रवीणता एक-दूसरे के अभिन्न अंग बन जाते हैं और इनका वर्गीकरण मौलिक रूप में असंभव सा लगता है। इस तथ्य के बावजूद भी हम यदि नाटकों के वस्तु और रूप को अलग करने का प्रयास करते हैं तो वह इस उद्देश्य को लेकर कि इन नाटकों को किसी एक पक्ष से भली-भांति विचारा जा सके। यहां हम रूप से अधिक विषय वस्तु की ओर ज्यादा ध्यान देंगे।

आरम्भ में डा० सिद्धू के कथन विचारणीय हैं—

(क) "नाटककार को चाहिए कि वह जीवन-मृत्यु के चक्कर में फंसे हुए इन मनुष्यों के अन्दर झांक कर उनको सही चित्रित कर सके, पात्रों को पवित्र और भ्रष्ट होने से रोके।"[1] (पृ० 26)

(ख) "जिस दिन मैंने यह फैसला किया कि मैं अपने लोगों की अच्छी और बुरी

1. डा० चरणदास सिद्धू के कथन और नाटकों के सन्दर्भ उनकी पुस्तक 'चार ड्रामे' (दिल्ली; नैशनल बुक शाप, 1987) में से उद्धृत हैं।

घटनाओं, आदतों, विश्वासों पर कुछ नाटकों की रचना करूँ, उस दिन मुझे पता था कि मैं चापलूस नाटक नहीं लिखूँगा। कलाकार का काम है मनुष्य के जीवन को सुधारना, अपनी रचना में निकृष्टता को दिखाकर बुराई चित्रित कर उन कमज़ोरियों को समाज से निकालना।" (पृ० 262)

ऊपरलिखित कथनों में से पहला जीवन को सही-सही चित्रण करने की बात करता है जबकि दूसरे में मनुष्य के जीवन को सुधारने की बात कही गई है। एक तरफ केवल यथार्थ और दूसरी तरफ आदर्श की प्रस्तुति डा० सिद्धू के नाटकों की सम्पूर्ण तस्वीर बनते हैं। एक बात जो यहां बयान करनी आवश्यक है वह यह है कि डा० सिद्धू की आदर्श की ओर रुचि बुनियादी तौर पर उनके यथार्थ के प्रति मोह में से उत्पन्न होती है। यह दोनों एक-दूसरे से अन्तर्सबन्धित और अटूट हैं। यहां पर इनको अलगाना सिर्फ विश्लेषण के उद्देश्य से ही किया गया है। यथार्थ और आदर्श इन नाटकों में ऐसे जुड़े हैं कि यह फैसला करना कठिन हो जाता है कि कहां यथार्थ समाप्त होता है और कहां से आदर्श शुरु होता है।

यथार्थ चित्रण डा० सिद्धू के नाटकों का प्रथम सरोकार है चाहे इनका अन्तिम उद्देश्य, 'मनुष्य के जीवन को सुधारना' ही हो। केन्द्र बिन्दु पंजाब के गांवों का वर्तमान है परन्तु यह वर्तमान अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की नींव से टूटा हुआ नहीं दिखाया गया। न सिर्फ वर्तमान को ही भूतकाल का अगला पड़ाव दर्शाया गया है बल्कि विभिन्न शिल्पों का प्रयोग करते हुए वर्तमान को भूतकाल की तुलना में रख कर इसकी असंगतियों और समानताओं को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। यह एक अलग बात है कि ऐसे विश्लेषण का उद्देश्य वर्तमान को कोई भविष्योन्मुखी मार्ग दिखाना होता है। इस तरह इन नाटकों में प्रस्तुत यथार्थ अपने बाहरी स्वरूप से भूत, वर्तमान, भविष्य की प्रक्रिया में ऐसा जुड़ा हुआ होता है कि आन्तरिक बनावट में यह आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि बहुत सारे पक्षों के आधार पर उभरता है और अपनी पूरी गहराई और समग्रता में प्रस्तुत होता है। परन्तु यथार्थ की यह समग्रता लेखक से बहिर्मुखी पक्ष की मांग करती है क्योंकि इसके बिना समग्रता तक पहुंचना असम्भव होता है।

डा० सिद्धू का हर नाटक एक नाटकीय टकराव के आधार पर टकराव निर्मित होता है और यह टकराव शारीरिक की बजाये वैचारिक अधिक होता है। दो विरोधी विचारधाराएँ आपस में टकराती हैं, परन्तु हर पक्ष का अपना अपना तर्क होता है। अच्छाई और बुराई के स्थान पर यूनानी नाटकों की तरह दो तरह की सच्चाईयां आपस में टकराती महसूस होती हैं। 'पंज खूहां वाले' में मलकीत सिंह, दरशां और

लच्छू द्वारा चुना गया, कत्लोग़ारत का रास्ता निराधार नहीं है। आर्थिक संकट और असुरक्षा वाले समाज में यह तीनों अपने हितों को सुरक्षित करने की होड़ में हैं। उसके लिए वह हिंसक रास्ते का चुनाव करते हैं।

दरशां : लड़कियों का बराबर का हिस्सा बनता है लेकर रहूंगी मैं...। (पृ० 43)

मलकीत : जूती के ज़ोर से लूंगा, हवेली और साथ में यह खूह भी, हक हलाल बदले तो जान हथेली पर न रख सका तो मलकीत सिंह दसमेश का सिपाही कैसा हुआ......? (पृ० 53)

लच्छू : चुपचाप सवेर तक हमारा दोनों का पांच-पांच हज़ार पकड़ा दो गिन कर—इसके साथ और भी सुनो आज जो हो गया सो ठीक है आगे से तुम्हारी और मेरी सांझ खत्म। तुम्हारे जैसे औरंगज़ेब के साथ हमारा साथ नहीं निभ सकता। अपनी ज़मीन को स्वयं जोतो और मैं अपने अकेले की जोतूँगा। हवेली और घर आधा-आधा होगा। (पृ० 56)

नाटक 'मस्त मेघोवालिया' के चौधरी बलबीर सिंह ठेकेदार, इकबाल चन्द और एम० एल० ए० कुलवंत कौर में मलकीत, दर्शां और लच्छू की आर्थिक हितों के लिए लड़ाई आगे बढ़ती हुई राजनीति में प्रवेश कर जाती है। पहले नाटक में मलकीत सिंह चुनाव लड़ने के लिए सोच रहा है। पर इस नाटक में कुलवंत कौर द्वारा शासन का नशा महसूस कर रहे हैं यह पात्र। ठेकेदार, चौधरी और एम०एल०ए० की ओर से किये जा रहे कुकर्म, भ्रष्टाचार और षडयन्त्र यथार्थ में हो रहे राजनीतिक कुकर्मों के मुकाबले तुच्छ लगते हैं। यह तथ्य शायद यह ज़ाहिर करता है कि यह नाटक अब का नहीं अब से कुछ पहले के समाज का चित्रण करता है, जब ऐसे कुकर्म बहुत बड़े माने जाते थे। वर्तमान समय में तो उपरोक्त पात्र पाप करते और पाप छिपाने के लिए उपाय ढूंढते मासूम से लगते हैं। एक बेसहारा राजस्थानी औरत के साथ बलात्कार और बाद में नहर में धकेल कर उसका कत्ल करने का प्रयास वर्तमान यथार्थ से मिला कर देखा जाये तो महत्त्वहीन लगता है परन्तु नाटककार ने घटनाओं का संतुलन बनाए रखा है। 'मस्त' जो कि विद्रोह और इन्साफ की आवाज़ का प्रतीक है अन्त में कत्ल कर दिया जाता है। अर्थात् विद्रोह को दबा दिया जाता है। शासक वर्ग के लिए यह तब भी मामूली बात थी, अब भी मामूली बात है। चौधरी और ठेकेदार जगदम्बा के साथ बलात्कार करते हैं परन्तु उसे कत्ल नहीं करना चाहते। कत्ल वह सिर्फ तभी करते हैं जब जगदम्बा शोर मचाने की कोशिश करती है।

यह इन शैतान पात्रों का अपना तर्क है। वह तो 'मस्त' को फंसाना या मरवाना भी नहीं चाहते। उसको वह फंसाते और मारते तब हैं जब 'मस्त' धमकाने के बावजूद भी चुप नहीं करता, यह उनका दूसरा तर्क है। उनका अपना सत्य है।

"बात फत्तू झीवर की" में लगभग हर पात्र अपनी-अपनी सच्चाई लेकर जी रहा है। भोलां अपने चचेरे भाई कुलतार के साथ कुकर्म करने के लिए इसलिए विवश होती है कि सुसराल वालों की ओर से छोड़े जाने के बाद, अपनी मां का बुरा व्यवहार, और फिर उसके पिता फत्तू और भाईयों की उसके प्रति लापरवाही मिल-जुल कर वर्तमान जीवन को उसके लिए नर्क बना देते हैं। भोलां का कुकर्म उसके लिए ऐसी सच्चाई है जो फत्तू के सब भ्रमों को ही नहीं तोड़ती बल्कि सुखदेव कुमार 'अन्खी' को भी कल्पना से वास्तविकता में ला खड़ा करती है। हर पात्र का निजी सत्य अपने से बड़े सत्य के साथ टकराता, टूटता और बिखरता है और अन्त में जीवन का बड़ा सत्य जीवित रहता है और क्षणभंगुर सत्य आलोप हो जाते हैं।

'भाईया हाकम सिंह' का बिल्ला लंबड़ आंतकवाद की ओर इसलिए जाता है कि उसका भाई पुलिस ने मार दिया था और फिर पुलिस उसके बाकी घर वालों को तंग ही नहीं करती बल्कि उसकी बहन के साथ बलात्कार भी करती है। भाईया हाकम सिंह बिल्ले से बिल्कुल अलग इन्सान है और उसका सत्य बिल्ले के सत्य से काफी बड़ा है। इसी कारण ही बेशक वह पुलिस से मुकाबला करता है परन्तु वह बिल्ले के सत्य को भी घटिया साबित कर जाता है।

मूल मुद्दा यह है कि सत्य सापेक्षक होता है सम्पूर्ण नहीं। इन नाटकों के पात्र अपने-अपने सापेक्षक सत्य में जीवित होते हुए एक-दूसरे के साथ द्वन्द्वात्मक रिश्तों में जुड़े होते हैं। इस द्वन्द्व में से कभी एक सत्य विजयी होता है और कभी दूसरा सत्य परन्तु अन्तिम विजय उसी की होती है जो समय के सत्य के नजदीक होता है या उसके समरूप होता है। यह सत्य अपने संकीर्ण और विशाल हर रूप में कुछ तत्वों (आर्थिक, सदाचार, राजनैतिक) आधार पर विकसित होता है और हर व्यक्ति का अस्तित्व का आधार बनता है। उसकी यही विचारधारा, जीवन दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी होती है।

डा० सिद्धू के पात्रों का निम्नवर्ग के साथ संबंधित होना इसलिए महत्त्व रखता हैं कि उसके नाटक इस कारण एक वर्ग विशेष के दुःखों, तकलीफों की कहानी बन गये हैं। परन्तु इस कारण उसके नाटकों को समसामयिकता भी मिली है। इन नाटकों के पात्रों के मध्य रिश्तों की आर्थिकता उनको सर्वव्यापकता भी प्रदान करती है।

आर्थिकता का तत्व समाज में रहते मनुष्यों के मूल्यों को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण रोल अदा करता है। "पांच खूहों वाले" नाटक में आर्थिक तौर पर गिरता हुआ परिवार समसामयिकता का चिन्ह है परन्तु जो चीज़ नाटक को सर्वव्यापक बनाती है वह है दसोंधा सिंह का अपने पुत्रों और बेटी के साथ आर्थिकता पर आधारित सम्बन्ध। अपने आर्थिक अधिकारों के लिए लड़ना अलग बात है और लालच के लिए लड़ना बिल्कुल अलग। दसोंधा सिंह जीतू को आर्थिक तौर पर अपने पैरों पर खड़ा करना चाहता है तभी वह अपने लालची पुत्रों और बेटी को अच्छा नहीं लगता। वह न सिर्फ लालच के कारण ही अपने पिता को मारने को तैयार हो जाते हैं, बल्कि लूट का माल आपस में बांटने पर झगड़ पड़ते हैं और इस कोशिश में परिवार का भविष्य भी गंवा बैठते हैं। लालच और स्वार्थ द्वारा इकट्ठी की गई दौलत से बाद में राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की कोशिश अगला पड़ाव है जिस ओर 'पांच खूहों वाले' का मलकीत सिंह कदम बढ़ रहा है परन्तु जिस को 'मस्त मेघोवालिया' के चौधरी बलबीर सिंह, ठेकेदार इकबाल सिंह और कुलवंत कौर एम० एल० ए० आदि पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। जिस राजनैतिक भ्रष्टाचार को यह लोग विकसित करते हैं वह राज्य शक्ति की सहायता के साथ बनाये रखी जा सकती है, धीरे-धीरे यह राजनैतिक भ्रष्टाचार और राज्य शक्ति ऐसे खुलकर खेलती है कि आम जनता विवश होकर बैठ जाती है जैसे 'भाईया हाकम सिंह' में।

'बात फत्तू झीवर' की तो सीधे तौर पर गरीबी की समस्या को पेश करता है। फत्तू झीवर अपनी लड़की भोलां की अमरीका से आये लड़के के साथ इसलिए शादी करना चाहता है ताकि उसको अपनी गरीबी से राहत मिल सके। उसका छोटा लड़का सुखदेव कुमार डी० सी० बनने के स्वप्न देखता है, परन्तु यथार्थ के साथ टकरा कर उसके सपने बिखर जाते हैं तो सैनटरी मकैनिक बन जाता है जिसको पहले वह शान के विरुद्ध मानता था। दूसरी तरफ कुलतार जो सुखदेव की तरह ही यूटोपिया का शिकार है, अपनी बहन के साथ अवैध संबंध स्थापित करता है। सपने टूटने से पहले हर पात्र अपने सापेक्षक सत्य के स्थान पर झूठ पाल रहा दिखाई देता है। फत्तू जो अपने पुत्रों की कोशिश द्वारा अमीर बनना चाहता है इस बात पर निराश है कि उसके पुत्र निकम्मे हैं। उसके पुत्र उसको निकम्मा और सुस्त बताते हैं जिसने उनके लिए कुछ नहीं किया। सुखदेव तो यहां तक कह देता है :—

"गरीबी एक आदत है, नशा है—जिसको लग जाए छोड़ना मुश्किल है, सोच-सोच कर मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ. पावरटी इज ए हैबिट एण्ड हैबिट इज ए सैकंड नेचर।" (पृ० 203)

आर्थिक तत्व के उपरान्त जो बात इन नाटकों के पात्रों और स्थितियों को सर्वव्यापक बनाती है वह है इन नाटकों में पेश यथार्थ का सभ्याचारिक सन्दर्भ । धार्मिक मिथहास से लेकर ऐतिहासिक संकेतों तक के हवाले सिर्फ बिम्बों का काम नहीं करते, बल्कि वर्तमान स्थितियों के साथ समान्तर पुरातन मिथकों और इतिहासिक सन्दर्भों को जोड़कर आदि रूपों (Archetype) का सृजन कर जीवन की निरन्तरता का आभास कराने की कोशिश की गई है ।

नाटकों में से कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

लच्छू : "अच्छे भले काम करते थे सभी इकट्ठे । क्या भगवान की मार पड़ी कौरव पांडवों की तरह ।" (पृ० 34)

मलकीत : "तुझ रावण का नाश करूंगा । मैंने न जलाई तुम्हारी लंका तो फिटकार देना मुझे ।" (पृ० 53)

दरशां : "पिता तो पिता ही होता है काफरो, क्यों तुम औरंगज़ेब बनते हो ?" (पृ० 65)

दसौंधा : "नानक बाबे ने हक कमाया, जब गुरु-गद्दी देने का मौका आया, महाराज ने जो सच्चा सेवादार था गुरु घर का भाई लहना, उसको गद्दी पर विराजमान किया, अपने सगे पुत्रों को, श्रीचन्द और लक्ष्मीदास को गद्दी नहीं दी ।" (पृ० 77)

दसौंधा : ऐसे ही मरना अब तुम । नामों का लड़का व्यर्थ ही मारा, व्यर्थ मारा मेरी बहू को, तुम सालो, ऐसे ही मरना फंस-फंसकर, कृष्ण के वंश की तरह, यादवों की तरह, फंस-फंसकर । कहते हैं जब यादवों का अन्त आया, घास की तलवारें बन गई थीं, आपस में लड़-लड़ कर मर गया सारा परिवार । (पृ० 82)

लाजो : "यह भी तो कौरवों और पांडवों वाली लड़ाई है, मस्त ठीक कहता है ।" (पृ० 115)

पंडित : कृष्ण फजूल थोड़े ही कहता है अर्जुन को ? मोह माया में फंसकर व्यक्ति परिवार के बदले अपना आप गंवा लेता ।" (पृ० 115)

यह पुरातन मिथकों के प्रयोग इन नाटकों में दोहरा काम करते हैं । एक तरफ यह वर्तमान को सर्वव्यापक सतह पर लाकर बढ़िया ढंग से समझने का प्रयास करते हैं । दूसरी तरफ पुरातन मिथकों की नई व्याख्या करते और उनको नये अर्थ प्रदान करते हैं । 'मस्त मघोधालिया' जैसे पात्र बिल्कुल ही प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करते समय अपने स्थानक और सामाजिक अस्तित्व को खतरे में डाल लेते हैं । इस पात्र की

रचना नाटककार की सर्वव्यापक स्थितियों को रचने की रुचि को मुख्य रूप में स्थापित करती है।

धर्म किसी सभ्यचार का एक महत्त्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है। धर्म अपने विशाल रूप में किसी सभ्यचार की प्राप्ति होती है और संकुचित रूप में उसकी अप्राप्ति। डा० चरणदास सिद्धू का विचार है कि धर्म स्थापना के रूप में भी खतरनाक है और इसके प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता भी खतरनाक है। पंडित (हिन्दू धर्म) और सीलीआ (ईसाई धर्म) दोनों शासक वर्ग की झोली उठाते हैं। ['मस्त मेघोवालिया'] 'पांच खूहों वाले' का मलकीत और 'भाईया हाकम सिंह' का बिल्ला धार्मिक कट्टरता के शिकार हैं और वह शान्तिपूर्ण समाज में जहर घोलने का कारण बनते हैं। धार्मिक प्रतिबद्धता को विशेष रूप में व्यंग्य का निशाना बनाया गया है।

दलबीर : "तलवारें चलाना आदमी का काम नहीं, जानवरों का है।"

लच्छू : सुधर जा तू ऐसे ही लड़ाई अपने सर ले रहा है। चार दिन पहले यही बात भाईया ने कही थी, मलकीत सिंह तलवार निकाल कर झपटा था मारने को......। छठे गुरु महाराज की बेइज्जती कर दी। जिन्होंने दो तलवारें पहनी—एक मीरी—दूसरी पीरी की। (पृ० 36)

धार्मिक कट्टरता के पीछे धर्म की अनुचित व्याख्या काम करती है। इसी तथ्य की व्याख्या डा० सिद्धू नाटक 'मस्त मेघोवालिया' की भूमिका में करते हैं :—

"अपनी ओर से आदमी अभिमान करता है कि वह धर्म का उचित मतलब समझता है। वह अकेला ही इस भेद को जानता है। वास्तव में धर्म शब्द उस कीड़े के समान है जो जिस पत्ते पर बैठता है वैसा ही रंग अपना लेता है।" (पृ० 89) इसलिए स्पष्ट है कि डा० चरणदास सिद्धू धर्म को हर व्यक्ति के सापेक्षक सत्य के साथ जोड़ता है जो उसके अस्तित्व का आधार होता है तथा जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। यह निजी धर्म दसोधा सिंह, 'मस्त' और 'भाईया हाकम सिंह' में मानवी प्रेम और आपसी भाईचारे का रूप धारण करता है और मलकीत सिंह, पंडित और बिल्ले आदि में संकीर्ण स्वार्थ का। वास्तव में हर धर्म अपने-अपने ढंग से मनुष्यता के प्रगतिशील मूल्यों को उजागर करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से हर धर्म सांझवादी है, अलगाववादी नहीं। इस तथ्य को 'मस्त मेघोवालिया' पात्र के द्वारा उघाड़ने का प्रयास किया गया है। मलकीत सिंह, बिल्ले, जैसे पात्र गिनती में निसंदेह कम हैं परन्तु यह वर्तमान स्थिति का केन्द्र-बिन्दु बने हुए हैं यही इस स्थिति का दुखान्त है। जीतू, दलबीर, गेजो के गर्भ में स्थित बच्चा जो भविष्य का प्रतीक है, इस दुखान्त का शिकार हैं।

डा० सिद्धू के नाटकों में चित्रित यथार्थ सुन्दर नहीं बहुत शुष्क, निराशाजनक है।

"पांच खूहों बाले' में तीन कत्ल होते हैं। चौथे की साज़िश रची जाती है। 1947 की कत्लोगारत को याद किया जाता है। आपसी लड़ाई झगड़े होते हैं। 'मस्त मेघोवालिया' में एक मजबूर औरत के साथ बलात्कार करके उसका कत्ल कर दिया जाता है। मस्त को सच बोलने से रोकने के लिए गोली मार दी जाती है। 'बात फत्तू झीवर की' में बहन-भाई कुकर्म करते हैं और चोरी छिपे शादी करा कर घर से भाग जाते हैं। घर में कलेश रहता है। 'भाईया हाकम सिंह' में भी कत्लोगारत के अतिरिक्त लड़ाई-झगड़े का बोलबाला रहता है। इसी कारण इस तस्वीर को कई आलोचक अतियथार्थवादी का नाम देते हैं। इसी के साथ ही अश्लीलता का दोष भी लगाया जाता है। डा० गुरदियाल सिंह फूल ने 'भाईया हाकम सिंह' के हाकम सिंह और विद्या बंती के अवैध सम्बन्धों का बिरोध करते हुए उनके आपसी वार्तालाप को अश्लील कहा है।[1]

परन्तु वास्तव में हाकम सिंह और बंती का आपसी संबंध सिर्फ सैक्स पर आधारित नहीं है। बंती को हाकम सिंह का भगवान् जैसा सहारा है। वह दिल से उसे अपना पति मानती है :

"इस प्रलय से बचाओ भगवान् ! ज़ालिमों से छुड़ाओ, मुझे दूसरी बार विधबा न बनाना, भगवान् दया करो, रहम करो।" (पृ० 333)

वह अपनी सोने की मुहरें देकर हाकम सिंह की सहायता करने की कोशिश करती है जबकि हाकम सिंह की अपनी लालची पत्नी रामों उसकी बात सुनने के लिए भी तैयार नहीं। डा० चरणदास सिद्धू अश्लीलता के दोष पर जवाब देते हुए कहते हैं—

"चालचलन बहुत बड़ी बात है, आदमी का चरित्र टांगों के बीच दो इंच जगह तक ही सीमित नहीं, मैं हाकम सिंह और बंती को बहुत ऊँचे दर्जे के मनुष्य समझता हूँ।" (पृ० 265)

वास्तव में चरित्रहीनता अनुचित मूल्यों में है निषेधार्थक (Negative) व्यवहार में है। यदि हाकम सिंह और बंती का आपस में लैंगिक सम्बन्ध है भी तो भी वह पवित्र ही है, क्योंकि वह सिर्फ लैंगिक नहीं है। यह रिश्ता लिंग को शामिल भी करता है और उस से ऊपर भी उठता है। यही डा० सिद्धू की बलवंत गार्गी से विलक्षणता है। जहां डा० सिद्धू जीवन के दूसरे संदर्भों को नज़र-अन्दाज नहीं करता वहाँ गार्गी सिर्फ लिंग तृप्ति तक ही सीमित रह जाता है। इस तरह चरण दास सिद्धू के नाटक यथार्थ की सर्वांगीनता की तस्वीर दर्शाने की ओर रुचित दिखाई देते हैं जबकि गार्गी का यथार्थ चित्रण एकपक्षीय होता है।

---

1. डा० गुरदियाल सिंह : 'तुरी चलो' नाटककार चरणदास सिद्धू (नैशनल बुक शाप, दिल्ली, 1987). पृष्ठ 148.

घिनौने यथार्थ के अतियथार्थवादी पक्ष के वर्णन के साथ हम आरम्भ में दिये डा० सिद्धू के दो कथनों की ओर लौटते हैं। उनमें से दूसरे कथन में मनुष्य जीवन की 'बुराई' का चित्रण करने और 'निकृष्टता' को उजागर करने की बात का संदर्भ अब अधिक स्पष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि यथार्थ चित्रण अपने आप में डा० सिद्धू का उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य इससे अधिक ऊँचा है। उनका उद्देश्य नाटकों के द्वारा 'बुरे' यथार्थ को दिखाकर जीवन की निकृष्टता के प्रति पाठक के अन्तर्मन में एक घृणा की भावना उत्पन्न करना है जिसके फलस्वरूप वह यथार्थ को बदलने का प्रयास करे। इसलिए नाटककार एक निष्पक्ष दर्शक से प्रतिबद्ध कलाकार बनने की ओर यात्रा करता है। परन्तु उसकी यह प्रतिबद्धता आदर्शवादी विचारधारा से अलग है। जहां आदर्शवादी विचार-धारा सीधे प्रचारवाद में चली जाती है, (जैसे गुरशरण सिंह के नाटक), वहां डा० सिद्धू की प्रतिबद्धता यथार्थ में से एक नई दिशा उभारने की कोशिश करती है। दिशा लेने के लिए जिस नाटकीय शिल्प का प्रयोग किया गया उसकी चर्चा भी आवश्यक है।

डा० सिद्धू ने यूनानी-प्राचीन नाटकों की तरह 'कोरस' और 'गीतों' का कई जगह प्रयोग किया है। इनके द्वारा नाटककार सीधे तौर पर वह बात कहता है जो नाटकीय घटनाओं पर थोपने पर आदर्शवादी कहलायेगी। एक तरफ ऐसे गीत लेखक की चेतन दार्शनिकता अभिव्यक्त करने का साधन बनते हैं, दूसरी तरफ साधारण दर्शक को भावुक तौर पर आकर्षित करते हैं। यह गीत नाटक का भाग होते हुए भी इसका भाग नहीं होते। गीतों द्वारा कही गई बात के बारे में नाटककार और दर्शक दोनों सचेत होते हैं परन्तु पात्र अचेत होते हैं। इसलिए निश्चय ही यह नाटक की रचनात्मक स्थिति से बाहर रहते हैं और नाटककार—दर्शक के बीच सम्प्रेषणीयता स्थापित करने का साधन बनते हैं। इसी कारण गीतों द्वारा कही गई स्पष्टबात भी कलात्मक तौर पर नाटक पर कोई धब्बा नहीं बनती और इसी कारण ही डा० सिद्धू के नाटकों के गीत प्रचारवादी होने के बावजूद भी उनके नाटक प्रचारवादी नहीं हैं।

सभी नाटकों की कथा में कोई दिशा दी गई होती है जो पाठक/दर्शक पर अचेत प्रभाव डालती है। 'पांच खूहों वाले' में सब से बढ़कर स्वार्थहित उठाये गये कदम सब में अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं। 'मस्त मेघोवालिया' में मस्त पागल बनकर बेझिझक जी सकता है परन्तु बुद्धिमान बनना उसके लिए मौत है। मज़दूर लोग ज़ुल्म के खिलाफ अकेले-अकेले नहीं इकट्ठे होकर ही लड़ सकते हैं। 'बात फत्तू झीर की' में दूसरों की आशाओं की जगह अपने हाथों की मेहनत ही फल देती है। 'भाईया हाकम सिंह' में अपने संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर सभी के लिए लड़ना हिम्मत की

मांग करता है। परन्तु यह दिशाएँ नाटक से अपने आप उभरती हैं कोई उपदेश नहीं बनतीं।

नाटक में प्रयोग की गई मौलिक मिथकीय शिल्पें भी लेखक की विचारधारा को स्पष्ट करती हैं। गुरु नानक को धार्मिक आडम्बर के विरुद्ध प्रतीक और भगत सिंह को सामाजिक, आर्थिक, जुल्म के बिरुद्ध विद्रोह के प्रतीक के रूप में पेश किया गया है (भाईया हाकम सिंह)। अर्जुन और कृष्ण की कथा द्वारा पंडित की धार्मिक स्थिति को स्पष्ट किया गया है। ('मस्त मेघोवालिया')। 'बात फत्तू झीवर की' में लोक कथाओं का आलम्बन लिया गया है और दर्शाया गया है कि गरीब की स्थिति अमीर के मुकाबले कितनी निर्बल है।

डा० सिद्धू ने अपनी विचारधारा को अभिव्यक्त करने के लिए आदर्शक रंग के पात्र भी सृजन करने का प्रयास किया है, जैसे—दसोंधा सिंह, मस्त मेघोवालयि, चानन कौर और भाईया हाकम सिंह—परन्तु यथार्थ इन पर आरोपित नहीं किया गया है बल्कि यह सब यथार्थ में से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु रोचक बात यह है कि डा० सिद्धू, बूढ़ों और नवयुवक पात्रों को ही आदर्शक बनाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसका अपनी बिरासत से अथाह मोह है और नई पीढ़ी से उसको काफी आशाएँ हैं। दसोंधा सिंह और हाकम सिंह प्रतीकात्मक रूप में पंजाब की विरासत हैं, तो दलबीर, मस्त, चानन कौर आदि पंजाब का भविष्य।

हर नाटक जिस नाटकीय टकराव के आधार पर रचा जाता है, वह वास्तव में दृष्टिकोण का टकराव होता है। इन दो तरह के दृष्टिकोणों को साथ-साथ दिखाकर नाटककार दिशा का चुनाव पाठक/दर्शक के ऊपर छोड़ देता है। दृष्टिकोण के अन्दर जो सच्चाई है, बल है उसके और अपनी समझ, समर्था के आधार पर पाठक/दर्शक अपना मार्ग स्वयं चुन लेता है। इस तरह का दिशा प्रदर्शन अधिक शक्तिशाली होता है।

उपरोक्त नाटकीय शिल्पों की सहायता से डा० सिद्धू ने एक बिचार प्रबन्ध प्रस्तुत करने की कोशिश की है। आर्थिक असंतुलन वाले समाज में शक्तिशाली ही सब कुछ होता है। शक्तिशाली, कामुक और स्वार्थी पात्र निर्बल लोगों की चमड़ी उतारते हैं। मज़दूर गरीबी की मार सहते हुए बूढ़े हो जाते हैं न्याय नहीं ले पाते क्योंकि वह इसकी हिम्मत ही नहीं करते और आपस में बंटे हुए हैं। धार्मिक कट्टरता साधारण जनता के विरुद्ध अमीरों का हथियार बनती है। साम्प्रदायिक विभाजन से ऊपर उठना चाहिए और इन्सान की पहचान करनी चाहिए। पंजाब के आधुनिक सन्दर्भ में धार्मिक कट्टरता और सरकारी अत्याचार एक जैसे ही उत्तरदायी हैं।

(प्रवक्ता : सरकारी कालेज, ज़ीरा, फिरोज़पुर)

प्रेमचन्द युगीन–उपन्यासों में नारी

—श्रीमती कामायनी कौशिक

प्रेमचन्द पहले कथाकार थे जिन्होंने नारी के सशक्त व्यक्तित्व को सामने रखा। हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उस समय देश में राजनैतिक आन्दोलन चल रहे थे। पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं का अन्त हो रहा था। प्रेमचन्द युग के उपन्यासों में नारी के प्रति सम्मान और करुणा की भावना मिलती है। इन्होंने उपन्यासों में नारी जीवन की सारी विषमताओं का चित्रण इस प्रकार किया है कि उसे समाज की सहानुभूति मिल सके। इस युग के उपन्यासकारों ने नागरिक और ग्रामीण नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यासों में लिया। प्रेमचन्द के नारी-पात्र भारतीय जीवन के काल्पनिक चित्र की अपेक्षा वास्तविक चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। उनका जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण है और उनके अपने आदर्श हैं। "प्रेमचन्द के नारी-पात्रों का एक क्रमिक विकास है जो बृजरानी से शुरु होकर नोहरी और धनिया के रूप में आगे बढ़ता है। इस क्रम के कई प्रकार के पात्र हमारे सामने आते हैं जो कि भिन्न-भिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ मध्य वर्ग, कुछ किसान, कुछ महाजन और कुछ ज़मींदार वर्ग की सदस्याएं हैं और वे अपने ही वर्ग की धारणा, चरित्र और नैतिकता को व्यक्त करती हैं। प्रेमचन्द अपने नारी पात्रों द्वारा प्राय: सभी युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, भूत, वर्तमान सभी काल इनके उपन्यासों में मूर्त हो उठे हैं।"[1]

प्रेमचन्द के नारी-पात्रों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

निम्नमध्या नागरिकाएं—इस वर्ग की नारियां समाज की रूढ़ियों और आर्थिक अव्यवस्थाओं के कारण विद्रोही बन जाती हैं। वे 'वरदान' की बृजरानी विधवा है उसका विवाह एक आवारा पुरुष कमलाचरण से हो जाता है। बृजरानी के प्रेम से वह सही रास्ते पर आ जाता है लेकिन कुछ समय के बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। बृजरानी जीवन से निराश हो जाती है और साहित्य की ओर प्रवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने वृद्ध विवाह की समस्या को चित्रित

1. 'हिन्दी उपन्यासों में नारी', डा० शैल रस्तोगी, विभू प्रकाशन, 1977, पृ० 73.

किया है। निर्मला एक सम्पन्न परिवार की लड़की है। उसे एक वृद्ध पुरुष से शादी करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है। जिसके तीन पुत्र हैं। उसका पति शंकालु स्वभाव का व्यक्ति है। निर्मला भावुक भी है और कर्त्तव्यनिष्ठ भी। उसमें कोमलता भी है और कठोरता भी। 'गबन' में भी अनमेल विवाह की समस्या उठाई गई है। इसमें रत्न एक ऐसी नारी है जिसे अनमेल विवाह के अभिशाप को झेलना पड़ता है। पति की मृत्यु के बाद उसे समस्त पूंजी से भी हाथ धोने पड़ते हैं, उसका भविष्य अन्धकारमय है। वह स्वाभिमानिनी नारी है। वह स्वयं मज़दूरी करने का निश्चय करती है। वह कहती है, "जो अपना पेट भी न पाल सके उसे जीते रहने का, दूसरों का बोझ बनने का कोई हक नहीं है।"[1] वह संयुक्त कुटुम्ब प्राणाली के प्रति भी विद्रोह प्रदर्शित करती है। इस प्रकार प्रेमचन्द के बाबू-वर्ग की नारियां विद्रोहिनी होने के साथ-साथ स्वाभिमानी भी हैं। लेकिन अपनी परिस्थितियों के कारण मजबूर हैं। इसलिए विद्रोह के रास्ते पर चलती हुई विचलित हो जाती हैं। वे सामाजिक शोषण और कुरीतियों के विरुद्ध भी विद्रोह करती हैं।

ग्राम कृषिकाएं—प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में ऐसे ग्रामीण पात्रों की सृष्टि की है जिन्हें कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। 'गोदान' के हीरा और धनियां अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रेमचन्द जी के कृषक वर्ग की नारियां हैं—धनियां, सिलिया, सोना, मुन्नी, सलोनी, पुनिया आदि हैं। 'गोदान' की धनियां एक विद्रोहिणी नारी है जो कि जमींदारों की खुशामद करने के विरुद्ध है। वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। धनियां को समाज की दुर्व्यवस्था को सहन करना पड़ता है। धुनियां अहीर परिवार से सम्बन्ध रखती है और विधवा है। वह प्रेम में समानता चाहती है। वह एकनिष्ठ प्यार चाहती है। सिलिया चमार जाति से सम्बन्ध रखने पर भी आदर्श नारी है। वह रूपवति न होकर भी आकर्षक है। वह समाज के मान प्रतिष्ठा की बिल्कुल परवाह नहीं करती। वह निर्भय और त्याग की मूर्ति है। वह निस्वार्थ प्रेम मातादीन से करती है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में ग्राम परम्पराओं और रीति-रिवाजों और ग्रामीण समस्याओं का सफल चित्रण किया है। प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों ने ही गांव की नारी का चित्रण अधिक स्वस्थ रूप में किया है। गांव की नारी, पुरुष के समान अधिकार चाहती है। वह अबला नहीं रहती।

शोषक वर्ग की महिलाएं—प्रेमचन्द ने जमींदार आदि शोषक वर्ग की नारियों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई। इस वर्ग की अधिकतर नारियां ऐश्वर्य प्रिय और विलासी हैं। विधा, श्रद्धा, रेणुका, इन्दु जैसी नारियां हृदय की कोमल होने के

---

2. **'हिन्दी उपन्यासों में नारी', डा० शैल रस्तोगी, विभू प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977, पृ० 81.**

कारण अन्याय सहन नहीं करतीं। इस वर्ग की नारियों की विशेषता है कि वे शोषक नहीं हैं वे दीनों और अछूतों के प्रति सहानुभूति रखती हैं। शोषित नारी की मुक्ति के लिए आवाज़ उठाती हैं। 'प्रेमाश्रम' की गायत्री इस वर्ग की प्रमुख नारियों में से एक है। जिसके माध्यम से प्रेमचन्द ने उच्चवर्गीय लोगों के पतन की ओर बढ़ते जीवन की वास्तविक झांकी हमारे सम्मुख रखी है। वह एक हिन्दू विधवा है जिसमें यौन असाधारण ढंग से उत्तेजित होता है वह ज्ञानशंकर से प्रेम करती है जो नैतिकता और सामाजिकता के विरुद्ध है। क्योंकि ज्ञानशंकर उसकी बहन विद्या का पति है। गायत्री क्योंकि जमींदार वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इसलिए शोषण करने से ज़रा भी संकोच नहीं करती। उसे अन्त में अपने विलासी जीवन से ग्लानि हो जाती है और मृत्यु को प्राप्त होती है।

कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रेमचन्द के नारी विषयक विचार इस प्रकार व्यक्त हुए हैं—

नारी और शिक्षा—प्रेमचन्द नारी की अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में हैं और वे उन्हें कानूनी अधिकार भी दिलाना चाहते हैं। 'गोदान' में नगर की नई संस्था 'वोमेन्स लोग' में प्रो० मेहता से प्रेमचन्द ने जो भाषण दिलवाया है—उसमें भी उन्होंने पुरुष से अधिक स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर ही बल दिया है—"मैं नहीं कहता देवियों को विद्या की ज़रुरत नहीं है और पुरुष से अधिक है। स्त्री को विद्या और अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है।"[1]

नारी के संवैधानिक अधिकार—प्रेमचन्द के विचार में नारी को भी पुरुष के समान सभी अधिकार मिलने चाहिएं तभी उसका विकास सम्भव हो सकता है। उनके अनुसार उनके उत्थान के लिए उन्हें, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी प्रकार के अधिकार देने चाहिएं।

प्रेमचन्द स्त्री की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। उनके विचार में युवक और युवती के शुद्ध व्यवहार हो तो सहशिक्षा भी हानिकारक नहीं है। 'भजन' में उन्होंने सहशिक्षा के लाभ बताए हैं। जहां लड़के-लड़कियां एक साथ शिक्षा पाते हैं, वहां जाति-भेद बहुत महत्त्व की वस्तु नहीं रह जाता। सहानुभूति और स्नेह से कामुकता नहीं रहती है। नारियों को जितनी स्वतन्त्रता होती है उतना ही वह देश सभ्य होता है। नारी के आचार की एक मात्र कसौटी यौन पवित्रता ही नहीं है। उसमें अन्य गुण भी होने चाहिएं। पर्दा प्रथा को उन्होंने स्त्री विकास में सबसे बड़ी बाधा माना है।

नारी और नौकरी—प्रेमचन्द नारी के नौकरी करने के अधिक पक्ष में नहीं थे।

1. प्रेमचन्द के नारी पात्र, डा० भरत सिंह, पुस्तक प्रचार, 1973, पृ० 73.

उनके विचार में स्त्री को घर को सजाना संवारना चाहिए। वे आर्थिक दुरावस्था के सुधार के लिए स्त्री का नौकरी करना उचित समझते हैं। 'लाछन' कहानी में मिस लीला डाक्टर है। 'गोदान' उपन्यास की मिस मालती भी इसी व्यवसाय द्वारा अपनी जीविकोपार्जन करती है।

विवाह—प्रेमचन्द ने गृहस्थाश्रम को सबसे प्रधान आश्रम माना है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में प्रो० दीनानाथ कहते हैं—मैंने कभी अविवाहित जीवन को आदर्श नहीं समझा। उन्होंने कर्म के लिए दाम्पत्य जीवन को नितांत आवश्यक माना है। प्रेमचन्द अपनी एक कहानी में लिखते हैं—

"विवाह मनुष्य को सुमार्ग पर रखने का सबसे उत्तम साधन है, जिसे अब तक मनुष्य ने आविष्कृत किया।"[1] 'रंगभूमि' उपन्यास में प्रेमचन्द के अनुसार दाम्पत्य मनुष्य के सामाजिक जीवन का मूल है। हृदय का सच्चा मिलाप ही सच्चा विवाह है।

अनमेल विवाह—प्रेमचन्द के अनुसार किसी भी कन्या की बलपूर्वक किसी वृद्ध व्यक्ति से शादी करने के लिए मजबूर नहीं करना चाहिए। वह आदर्श विवाह नहीं है। जिसमें नारी-पुरुष दोनों पूरी तरह से संतुष्ट न हों। प्रेमचन्द उन मां-बाप की कठोरता से निन्दा करते हैं जो अपनी बेटियों को जानबूझ कर अशिक्षित और असमर्थ व्यक्तियों से शादी करते हैं। 'कायाकल्प' में रानी रोहिणी धन के लोभ में असमान व्यक्ति से विवाह कराने वाले माता-पिता के लिए प्रार्थना करती है—"ईश्वर उन्हें नरक में भी चैन न दे।"[2] उनके विचार में खानदान की अपेक्षा योग्य वर देखना चाहिए।

तलाक—प्रेमचन्द इस व्यवस्था को उचित नहीं समझते, क्योंकि उन्होंने अपने समस्त साहित्य में कहीं भी ऐसे पति-पत्नी का उल्लेख नहीं किया जो तलाक प्राप्त हो। उनके अनुसार, "विवाह को तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है और न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके साथ कट जाते हैं।"[3] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द तलाक को पसन्द नहीं करते।

विधवा समस्या—प्रेमचन्द की कला का सबसे बड़ा आधवा विधवा जीवन है। इन्होंने विधवाओं की दशा का कारुणिक चित्र खींचा है। प्रेमचन्द सदैव विधवा उद्धार

---

1. उपरांकित, पृ० 75.
2. उपरांकित, पृ० 84.
3. 'गोदान', प्रेमचन्द, पृ० 80.

के लिए तत्पर रहे और विधवाओं के साथ उनकी पूर्ण सहानुभूति रही। 'नैराश्य लीला' कहानी में विधवाओं की दयनीय स्थिति का चित्रण है। 'धिक्कार' की मानो तो सबसे अधिक दु:खी विधवा है। मध्यवर्गीय परिवारों में विधवाओं को अशुभ और अमंगल समझा जाता है। विधवा पुनर्विवाह के लिए प्रेमचन्द आर्य समाज से भी प्रभावित थे। प्रेमचन्द साहित्य में एक भी ऐसी विधवा नहीं है जिसने अपनी बेबसी में असमर्थ वृद्ध पुरुष को सम्पत्ति के लालच में उससे शादी की हो। 'प्रेमा' में प्रेमचन्द ने अमृतराय से विधवा पूर्णा का विवाह करवाया है।

पति प्रेम—प्रेमचन्द ने पति के लिए पत्नी प्रेम और पत्नी के लिए पति प्रेम को आवश्यक मान कर भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। उनके अनुसार सती स्त्री वही है जो एक ही पुरुष को चाहती है। 'शाप' कहानी में लिखा है—"पति वियोग की दशा में स्त्री तपस्विनी हो जाती है, उसकी वासनाओं का अन्त हो जाता है। "स्त्री को अगर पति का प्रेम मिलता रहे तो वह कठोर से कठोर जीवन भी व्यतीत कर सकती है। अनेक प्रकार के कष्टों को सहन कर सकती है। एक विवाहिता नारी की आत्मा तभी तक जीवित है जब तक कि उसे अपने पति का मधुर प्रेम मिलता रहता है। पति-प्रेम के आगे संसार की अपार धन-राशि तुच्छ है। नारी पुरुष पर एकाधिकार चाहती है। 'गोदान' में धुनियां एक स्थान पर गोबर से कहती है—जानते हो दाम क्या देने होंगे। मेरा होकर रहना होगा। फिर किसी के सामने हाथ फैलाये देखूंगी तो घर से निकाल दूंगी।

इस प्रकार विभिन्न विषयों पर प्रेमचन्द के विचार व्यंजित हुए हैं।

जयशंकर प्रसाद—जयशंकर प्रसाद का नाम प्रेमचन्द समकालीन उपन्यासकारों में सबसे पहले आता है। इन्होंने अपने उपन्यासों में नारी के विविध रूपों का चित्रण किया है। नारी का मातृरूप उसके जीवन का सबसे बड़ा वरदान है। 'कंकाल' की किशोरी मां बनने के लिए अनैतिक मार्ग को अपनाती है। नारी जाति के प्रत्येक वर्ग का कारुणिक वर्णन करने में सबसे अधिक सफलता प्रसाद को मिली है। उनके 'तितली' उपन्यास में नारी के विभिन्न वर्गों का यथार्थ रूप में उल्लेख हुआ है। 'कंकाल' में सामाजिक बन्धनों से नारी की दुर्दशा का वर्णन है। इस उपन्यास की प्राय: सभी नारियां—यमुना, घण्टी, लतिका आदि पुरुषों के द्वारा शोषित हैं। वे सामाजिक बन्धनों से मुक्ति चाहती हैं। लेकिन मजबूर होकर खामोश रहती हैं। 'कंकाल' का मंगल जब गाला को यमुना की कहानी सुनाता है तो गाला का मन करुणा से भर जाता है, वह मंगल से कहती है—"नारी जाति का निर्माण विधाता की एक **झुंझलाहट है मंगल। उससे संसार के पुरुष कुछ लेना चाहते हैं, एक माता भी कुछ**

सहानुभूति रखती है। इसका कारण है उसका भी स्त्री होना।"[1] प्रसाद की नारियां दुर्बल होने के साथ-साथ स्वभाविक है। वे पुरुषों के कल्याण का कारण बनती हैं। उनकी नारियां भारतीय आदर्श का पालन करती हैं। तितली, यमुना व गाला इसके उदाहरण हैं। प्रसाद के उपन्यासों में नारी को सतीत्व, नारीत्व, मातृत्व जैसी भावनाएं व्यंजित हुई हैं। उनकी नारी ऐसी है जो दुलार और दया की अधिकारिणी है। उनकी मूक पुकार से लोगों के दिल द्रवित हो जाते हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—कौशिक जी के उपन्यासों की विशेषता है कि वे पात्रों की गहराई तक पहुंचते हैं। इनके नारी पात्र कहीं भी उलझे हुए नहीं हैं। उन्होंने 'भिखारिणी' उपन्यास में जस्सी को समाज की एक अभिशप्त नारी दिखाया है। उसके विचार उच्च हैं। वह भीख मांगने से नौकरी करना उचित समझती है। वह एक ऐसी नारी है जो एकनिष्ठ प्रेम करती है। वह सोचती है कि भारतीय नारी एक ही बार शादी करती है। वह रामनाथ का मन ही मन वरण कर लेती है। वह अपने पिता से कह देती है—"यदि तुम मेरा शेष जीवन दु:खमय नहीं बनाना चाहते हो, तो मेरा विवाह करने का विचार त्याग दो। यदि तुम मुझे विवाह के लिए अधिक दबाओगे तो मैं कुछ खाकर सो रहूंगी।" इस प्रकार वह आदर्श नारी है, कभी उसका मन विकारयुक्त नहीं होता।

भगवती प्रसाद बाजपेयी—इनके सभी उपन्यास नारी जीवन से सम्बन्धित हैं। इनके उपन्यासों की नारियां जीवन संघर्ष तो करती हैं लेकिन सफल नहीं हो पातीं। वे जीवन की प्रतिकूल स्थितियों से टक्कर नहीं ले सकतीं। वे जीवन में पुरुषार्थ नहीं करती। नियति को अधिक शक्तिशाली समझती हैं। वे भाग्य की कठपुतलियां हैं। 'प्रेमपथ' उपन्यास में वासना और कर्त्तव्य का संघर्ष दिखलाया है। अन्त में वासना पराजित होती है।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में नारी का चित्रण मुख्यत: पत्नी के रूप में आया है। प्रेयसी और माता का रूप गौण है। इस युग के उपन्यासकारों ने नारी जीवन की कुछ समस्याओं को नए दृष्टिकोण से देखा है। भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' में प्रेम में पाप और पुण्य समस्या को उठाया गया है। जैनेन्द्र का 'परख' और 'सुनीता' आदि उपन्यासों में नारी समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से देखा गया है। इस प्रकार प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में नारी-चित्रण सम्बन्धी एक नवीन चेतना का उदय हुआ।

(अध्यक्षा हिन्दी विभाग, केन्द्रीय विद्यालय, फरीदकोट)

---

1. 'हिन्दी उपन्यासों में नारी', डा० शैल रस्तोगी, विभू प्रकाशन, 1977, पृ० 81.

कहानीकार प्रेम प्रकाश का कथा-शिल्प

—प्रो० अतै सिंह

साहित्यिक रचना विचारों की अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि उनको पेश करने की विधि भी है। इस विधि को पहचानने से ही रचना की पहचान हो सकती है। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि अनुसार ही लिखने की विधि ग्रहण करता है। लेखक की विधि उसके विचारों और रुचियों के अनुकूल होती है। जो साहित्य रूप वह चुनता है उससे उसकी साहित्य के प्रति समझ और पकड़ का प्रमाण मिलता है। प्रेम प्रकाश का कथा-शिल्प कहानी के रूप को पहचानता भी है और निखारता भी है।

पंजाबी कहानी की अपनी सशक्त परम्परा है। यह अलग-अलग पड़ावों में से गुज़रती हुई वर्तमान रूप तक पहुंची है। डा० सविन्दर सिंह उप्पल के अनुसार—

"यह मिथक-कथा, दंत-कथा, परी-कहानी, नीति-कथा, पशु-कहानी, बचन, सुखान्त, बातों, समस्याओं, साखियों, चरित, उपख्यानों, कथाओं (leginds) आदि का रूप धारण करते हुए अपनी निरन्तर चाल कायम रख सकी है।"[1]

जहां पंजाबी कहानी की परम्परा इतनी शक्तिशाली है, वहां आधुनिक पश्चिमी प्रभावों से प्रभावित होना भी इसमें शामिल हो जाता है। चेतन साहित्यकारों ने समय की इस सच्चाई को समझते हुए अपनी परम्परा को विकसित किया है और बाहरी प्रभावों के अधीन आधुनिक संवेदना को भी अपनी रचना द्वारा प्रसारित किया है। प्रेम प्रकाश की कहानी शिल्प में परम्परागत कहानी-रस और आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति होती है। प्रेम प्रकाश के इस शिल्प को किसी एक नुकते (कथन) द्वारा समझना कठिन है। इसको डा० गुरबख्श सिंह के इस कथन द्वारा समझना अधिक उचित होगा—

"किसी साहित्यिक रचना को अलग-अलग स्तरों और कोणों से व्याख्या कर सकना इसको गहरी कलात्मकता प्रदान करता है।"[2]

---

1. डा० सविन्दर सिंह उप्पल, "पंजाबी कहानी-पुर्नमूल्यांकन", खोज दर्पण, अमृतसर, जनवरी, 1977.
2. डा० गुरबख्श सिंह, 'एक छिट चानन दी कहानी संग्रह का वस्तु पक्ष', खोज पत्रिका, पटियाला, मार्च, 1980.

कहानी का माध्यम उसमें स्थित घटना है। इस घटना को लेखक ऐसी विधि द्वारा पेश करता है कि उसके विचार किसी विशेष दृष्टिकोण से अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति जितनी कथात्मक और कलात्मक होगी, कहानी का रूप उतना अधिक निखरने लगता है। प्रेम प्रकाश अपनी कहानियों में एकाकी घटना की अभिव्यंजना कथात्मक और कलात्मक विधि से करता है। यह घटना विशेष और महत्त्वपूर्ण अर्थ ग्रहण करके उसके विचारों को अभिव्यक्त करती है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार अनुसार—

"कहानी एक भाव का एकाकी, कलापूर्ण, कथात्मक चित्रण है।"[1]

कथा का केन्द्रीय बिन्दु इसके पात्रों को माना जा सकता है। पात्र ही कहानी की बनावट-सजावट को सजीव बनाते हैं। पात्र मनुष्य का वास्तविक प्रतिबिम्ब होने के कारण मनुष्य के जीवन के साथ गहरी सांझ का अहसास पाठक को करवाते हैं। कथा में चित्रित पात्रों की परिस्थितियों द्वारा मनुष्य अपना और अपने चारों ओर का वातावरण पहचानने के समर्थ बनता है। मनुष्य को उसके 'स्वयं' और बाहरी वातावरण से तालमेल कराने का यह कार्य पात्रों के चित्रण की विधि पर अधिक निर्भर करता है। इसलिए विद्वान कथाकार पात्रों के ऊपर अधिक बल देने का प्रयास करते हैं।

टी० एस० ईलियट का कथन है कि "जिन विधियों द्वारा वास्तविकता को समझ लेना सम्भव है, पात्र उनमें से एक है।"[2] नैनसी हाले भी "कथा के प्रसंग में पात्रों को वास्तविक जीवन कहता है।"[3]

वास्तव में पात्र वह मनुष्य हैं जो उस स्थिति में से गुज़रने के कारण उसकी वास्तविकता को नज़दीक से अनुभव करते हैं, जिस में लेखक ने उनको डाला होता है। या वह स्वयं उस स्थिति में पहुंचे होते हैं। यह स्थिति कथा में ऐसी अदृश्य जगत बन कर चित्रित होती है जिस से हर पाठक/मनुष्य परिचित नहीं होता। इस स्थिति की वास्तविकता को जानने के लिए पाठक को पात्रों और लेखक पर विश्वास करना पड़ता है। जो इस स्थिति से अधिक सम्बन्धित होते हैं। परसी लयूबुक के अनुसार—

1. चन्द्रगुप्त विद्यालंकर, 'क्या कहानी मर रही है', धर्मयुग सप्ताहिक, बम्बई, मई, 1981.
2. Eliot, T. S., 'A Prediction', Henry James, (Ed. Leon Edel), Prentice—Hall, 1963, P. 55.
3. N ncy Hall, 'The Realities of Fiction', London, 1963, P. 48.

"कहानी किसी अदृश्य जगत में से गुजरती है, घटनाएं मनुष्य के चेतन में घटती हैं। हमें यह निर्णय कर लेना चाहिए कि हम उन तक स्वयं मनुष्य या लेखक की सहायता के बिना नहीं पहुंच सकते, जो उसके बारे में सब कुछ जानता है।"[1]

प्रेम प्रकाश के पात्र साधारण मनुष्य होने के कारण वर्तमान स्थिति की वास्तविकता की ओर संकेत करते हैं। उसके पात्र साधारण मनुष्य की कमज़ोरियों को बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्त करते हैं। उसके पात्रों की कमज़ोरियां और बुराईयां मनुष्य-जीवन की स्वाभाविकता और साधारणता बनकर पेश होने के कारण बनावटी सी प्रतीत नहीं होती। वह मनुष्य की कमियों को उभारता नहीं बल्कि इनसे चेतन करवाने का प्रयास करता है। सावधान करने का प्रयास करता है। उसके पात्र मनुष्य को किसी खोखले आदर्शवाद की प्रेरणा नहीं देते बल्कि कटु सत्यों को स्वीकारने की ओर इंगित करते हैं। ऐसे प्रेम प्रकाश आधुनिक मनुष्य की वास्तविकता को उसकी साधारणता द्वारा अभिव्यक्त करता है। डा० टी० आर० विनोद का भी विचार है कि "आज का साहित्य कुछ एक आदर्शक व्यक्तित्वों (हालातों से अप्रभावित) के चित्रों द्वारा पाठकों पर प्रभाव नहीं डालता बल्कि हालात से जूझते साधारण मनुष्य की कमज़ोरियों, सफलताओं के चित्रण द्वारा ऐसा करता है।"[2]

"कला की प्रकृति जटिल और विविध है।"[3] "तर्कशील ढंग से विचारना/सोचना किसी समस्या को इसमें शामिल वास्तविक प्रक्रिया, शक्तियों और गतिविधियों के सम्बन्ध में समझना है।"[4] प्रेम प्रकाश अपनी कहानियों की सृजना दार्शनिक ढंग से करता है। उसका दर्शन कलापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त होने के कारण तकनीकी नहीं लगता बल्कि मानवी-अनुभव में से उत्पन्न व्यावहारिक ज्ञान प्रतीत होता है।

उसकी कथा-विधि की विशेषता घटना, स्थिति और पात्रों का तर्कशील ढंग से विश्लेषण करना है। यह विश्लेषण वह सांकेतिक वर्णन और प्रतीकों के उचित प्रयोग

---

1. Percy Lubbock, 'The Point of View, Henry James, Ibid. P. 37.
2. डा० टी० आर० विनोद, 'साहित्य और चिन्तन' महान पब्लिशर्ज, पटियाला, 1976, पृ० VI.
3. Avnee, Zis, 'Foundations of Marxist Aesthetics', (Trans Katherine Judelson), Progress Publishers, Moscow, 1977, P. 24.
4. Sidney Finkelstein, 'Existentialism Alienation in American Litrature', International Publishers, New York, 3rd Edition, 1968, P. 24.

द्वारा करता है। यह विधि शायद बेशक जटिल प्रतीत होती है, पर इसके साथ पेश समस्याओं को समस्त पहलू दृष्टिगोचर हो जाते हैं। वह घटना के बयान से वृतान्त पर अधिक बल देता है। चित्रण-विधि प्रमाणों और गवाहियों द्वारा किसी घटना को प्रामाणिक बनाने पर अधिक जोर देती है। इसके द्वारा लेखक घटना को कथात्मक बना कर पेश करते हुए स्थिति की वास्तविकता को रूपमान करता है। चेतन साहित्यकार की वृत्तान्तक भाषा भी कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर करती है। प्रेम प्रकाश की वाक्य-रचना भी इस पक्ष से वर्णन करने योग्य है। वह अनुकूल वाक्य और उचित शब्द चयन की स्थिति को सांकेतिक और प्रतीकात्मक बनाने की सामर्थ्य रखता है। कहानी 'डैड लाईन' की मुख्य पात्र अपने देवर से सम्बन्धों का वृतान्त सुनाते हुए रस्मों की ओर संकेत करती है। जब शादी के समय वह अपने पति के घर जाती है तो छोटे देवर को उसकी गोद में बिठाया जाता है परन्तु मुझे लगा था कि मुझे याद 'भी' करवाया गया था कि मैं इसकी मां भी हूं।" इस वाक्य में 'भी' शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि वह उसकी मां नहीं पर उसकी 'मां' भी बनना पड़ता है।

साहित्य का सम्बन्ध हर तरह से मनुष्य और मानवी जीवन से है। यह मनुष्य जीवन के समान्तर चलता है, दोनों में मनुष्य की सांझ है। हर मनुष्य अपनी भावनाओं को प्रगट करने या औरों को समझने में समर्थ नहीं होता—कलाकार मनुष्य के इस कार्य में सहायता करता है। वह मनुष्य की भावनाओं को समझाने और अभिव्यक्त करने के लिए अनुकूल कलारूप चुनता है और इसके द्वारा मनुष्य को उसकी भावनाओं को समर्पित करके मनुष्य जीवन की असलीयत को सामने लाता है। कहानी मनुष्य की दबी हुई भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए अनुकूल साहित्य-रूप है। इस द्वारा मनुष्य कथा-रस का आनन्द लेता हुआ जीवन के सत्य को भी कबूल करता है। कहानी मानवी जीवन में घटित घटना पर आधारित होने और मानवीय पात्रों को अपना माध्यम बनाने के कारण मानवी जीवन के अधिक नज़दीक प्रतीत होती है। डा० अत्तर सिंह के निम्नलिखित विचार भी इसकी पुष्टि करते हैं—

"मनुष्य की दबी-घुटी जज़बाती रुचियों को मुक्त करने के लिए ऐसे माध्यम की आवश्यकता पड़ती है जो मनुष्य और उनके साथ घटने वाली घटनाओं को एक ऐसे ढंग से पेश करे जिसके साथ मनुष्य का अपनत्व और सांझ हो।......यह काम किसी ऐसी कला स्वरूप का है जिसमें कहानी का अंश है।"[1]

प्रेम प्रकाश घटनाओं और पात्रों को अपनी कहानियों द्वारा जिस विधि से पेश करता है, उससे मनुष्य की स्वाभाविक सांझ है। इस सांझेदारी के कारण मनुष्य अपने आपको समझने के समर्थ होता है। उसकी दबी-घुटी भावनाओं की अभिव्यक्ति

1. डा० अतर सिंह, 'दृष्टिकोण', लाहौर बुक शाप, लुधियाना, पृ० 125.

उसकी विचारधाराओं की ओर संकेत करता है। प्रेम प्रकाश अपने पात्रों को ऐसी स्थिति में डाल देता है कि वह अपनी एकान्त में सोचे हुए विचारों को निसंगता के साथ प्रगट करता है। इस विधि द्वारा उसके सार्थक विचार भी दृष्टिगोचर होते हैं, निरर्थक भी और ऐसे पाठक समान्तर मनुष्य की स्थिति (अस्तित्व) एक प्रश्न बनकर उभरती है। वह स्थितियां भी संकेत रूप में उभरती हैं, जिनके अन्तर्गत मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण पेश करके मनुष्य और मनुष्य जीवन की वास्तविकता की बहुआयामीय व्याख्या की है।

प्रेम प्रकाश अपनी कहानियों में अलग-अलग पात्रों के अलग-अलग दृष्टिकोणों को एक स्थान पर एकत्रित कर देता है। इन दृष्टिकोणों की व्याख्या और औचित्य पात्रों के परस्पर संवादों द्वारा प्रकट होती है। इसके साथ ही उन स्थितियों और कारणों की ओर संकेत भी होता है, जिनके अन्तर्गत इन पात्रों के दृष्टिकोण बनते हैं। लेकिन स्वयं ही पात्रों को उन विशेष स्थितियों में से गुज़ारता है जिनके अधीन वह अपना स्वयं की अभिव्यक्ति करने से हिचकिचाता नहीं। ऐसे ही मनुष्य के सूक्ष्म अनुभव और स्थूल स्थिति को एक ढंग (नुक्ते) से। तरीके से चित्रित करके मनुष्य की आन्तरिकता .....को बाहरी वास्तविकता के सामने उपस्थित करता है। किसी अकेले पात्र का दृष्टिकोण भी सार्थक हो सकता है और इसकी सार्थकता की प्रामाणिकता का निर्णय दूसरे पात्रों के दृष्टिकोण की तर्कशीलता द्वारा हो सकता है। ऐसे पाठक बराबर सार्थक और निरर्थक दृष्टिकोण एक ही समय पेश (चित्रित) होने के कारण वह वास्तविकता को आसानी से पहचान सकता है। इस विधि द्वारा रचना में स्थित वास्तविकता अधिक प्रमाणिक सिद्ध होती है।

'डैड लाईन' का पात्र सती मृत्यु के बिन्दु तक पहुंचने के कारण जीवन की वास्तविकता को नि:संकोच/निसन्देह स्वीकार करता है। वह जिन्दगी की लड़ाई समाप्त कर चुका है। इस अवस्था में पाप-पुण्य निरर्थक हो जाते हैं। उसके लिए अपनी भाभी मिसेज़ आनन्द सिर्फ एक औरत है, जिसके शरीर का वह उसकी सहायता से ही आनन्द लेता है। दोनों के दृष्टिकोण पाप-पुण्य से ऊपर हैं, परन्तु संस्कारों से पूर्ण मुक्त न होने के कारण जब कभी इस विधि/तरकीब पर संवादों की रचना करते हैं तो भी उनके दृष्टिकोण पाप-पुण्य को निरर्थक ही सिद्ध करते हैं। मुक्ति (1), मुक्ति (2) के निम्नलिखित वार्तालाप दो पात्रों के औरत-मर्द के स्वाभाविक और प्राकृतिक रिश्ते सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण पेश करके एक तथ्य (नुक्ते) को स्पष्ट करते हैं।

"अगले स्टेशन पर सुषमा का तैयार किया नाश्ता करते हुए मुझे लगा, इस

साथ का अजीब सा लुत्फ है। यह न प्रेमियों के हिस्से आता है न पति-पत्नी के हिस्से।" (प्रो० वर्मा)

अब सोचती हूँ, मैं क्यों भटकती रही ? क्या मुझे आदमी (मर्द) की भूख थी ? नहीं, क्या मुझे सामाजिक बन्धन तोड़ने का शौक था ? न, क्या मैं मर्दों को लुभाकर जलील करना चाहती थी ? शायद नहीं। शायद कुछ भी नहीं या सब कुछ सत्य था।......परमात्मा जानता है, मर्द ही क्यों नजदीक आये। (सुषमा)

'घर' कहानी में सिर्फ एक ही पात्र का दृष्टिकोण स्थिति को स्पष्ट करता है। 'गोई' दो विरोधी दृष्टिकोणों की टक्कर की कहानी है—एक आधुनिकता को धारण करने वाला है, दूसरा परम्परा को प्यार करता है। नतीजा यह निकलता है कि परम्परा को नकारने से आधुनिकता सिर्फ फैशन बन कर रह जाती है और परम्परा से टूटना अस्वाभाविक कर्म है। जहां पर भी विकास का सिद्धान्त ठीक है वहां अपनी असलीयत को पहचानना भी गलत नहीं। यह कहानी मनुष्य जीवन की स्वभाविकता की ओर संकेत करती है।

'लक्ष्मी', 'खून बुहा' और 'मैं तुहाडे विचों हां' भी इस किस्म की कहानियां हैं। 'मच्छी' कहानी इस प्रसंग में एक प्रतिनिधि उदाहरण है। इसमें पात्र एक-दूसरे के प्रति अपना दृष्टिकोण पेश करते हैं और इस बीच केन्द्रीय पात्र का दृष्टिकोण बाकी पात्रों के इस बारे दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है। ऐसे सारी स्थिति का भरपूर विश्लेषण होता है और घटना-लड़ी केन्द्रीय समस्या को स्वच्छता के बिन्दु तक पहुँचाती है। यह विधि लेखक के विचारों को सहज-स्वाभाविक ढंग से संचालन करने में सहायता करती है।

किसी को जानना निस्संदेह कठिन कार्य है, अपने आपको जानना भी आसान नहीं। किसी निश्चित स्थिति के बारे किसी एक के विचार पक्षपाती भी हो सकते हैं। निश्चित सिद्धान्त भी मनुष्य के विचारों को सीमित करते हैं। यही कारण है कि साहित्यिक विचारों को मानने योग्य होने के कारण, कई बार पाठक अन्तिम सच्चाई को मान लेता है। जरूरी नहीं यह विचार वास्तविक होने या मनुष्य को उसकी सही पहचान करवाने के योग्य हों। इस नाजुक अवस्था में किसी साहित्यिक रचना में अलग-अलग पात्रों के दृष्टिकोण पेश करने की विधि स्थिति की वास्तविकता को स्पष्ट करने और मनुष्य को उसकी पहचान करवाने में अधिक सहायक प्रतीत होती है। इस विधि को अपनाना प्रेम प्रकाश का स्तुत्य प्रयास है।

(प्रवक्ता, सरकारी कालेज, जीरा, फिरोजपुर)

'विचित्र-नाटक' में निहित गुरु गोबिन्द सिंह जी का व्यक्तित्व

—श्रीमती अर्चना वैद

गुरु गोबिन्द सिंह जी पंजाब साहित्य क्षेत्र के यशस्वी महाद्वीप हैं। गुरु गोबिन्द सिंह जी की वाणी पूर्व साहित्यिक परम्परा से भिन्न तथा मौलिक चिन्तन की द्योतक है। भाई मणि सिंह ने गुरु गोबिन्द सिंह की समस्त वाणी को 'दशम ग्रन्थ' के अन्तर्गत संगृहीत करके ऐतिहासिक उत्तरदायित्व की पूर्ति की। यह ग्रन्थ गुरुमुखी लिपि में और हिन्दी भाषा में लिखा गया है। गुरु गोबिन्द सिंह का साहित्यकार का रूप बहुआयामीय है। गुरु गोबिन्द सिंह जी का व्यक्तित्व और कृतित्व साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के लिए आज भी अनुकरणीय हैं। गुरु गोबिन्द सिंह जी एक मनमोहक और आकर्षक व्यक्तित्व के स्वामी थे। गुरु गोबिन्द सिंह जी एक महान् कवि, दार्शनिक और वीर योद्धा, महान् सेनानायक, इतिहासकार तथा एक धार्मिक व्यक्ति थे। 'विचित्र नाटक' में उनका व्यक्तित्व इन्हीं गुणों के आधार पर मुखरित हुआ है।

(क) 'विचित्र-नाटक' में गुरु गोबिन्द सिंह का कवि और दार्शनिक व्यक्तित्व—

गुरु गोबिन्द सिंह जी एक महान् कवि और फारसी के महान् विद्वान् थे। उनकी कविताएं महान् और ऊंचे दर्जे की हैं। गुरु जी पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत और फारसी के विद्वान् थे। मोहन सिंह के अनुसार—"गुरु गोबिन्द सिंह जी बिहार के बुद्ध धर्म और वैष्णव धर्म, पंजाब के नानक धर्म और सूफी धर्म के विचार सूत्रों में बंध गये और इन्हीं विचार सूत्रों में उन्होंने सुन्दर काव्य का निर्माण किया।"[1] 'जाप साहिब', 'जफरनामा' और 'विचित्र नाटक' उनकी महान् रचनाओं में गिने जाते हैं। यह सारे संग्रह जो 'दशम-ग्रन्थ' में संगृहीत हैं, उनकी शक्ति और काव्यात्मकता को प्रदर्शित करते हैं। मोहन सिंह के अनुसार—"गुरु गोबिन्द सिंह जी के सामने लोक-प्रिय परम्परा की जो मुख्य रूप से रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, विष्णु सहस्रनाम, नाटक, जाप और अनेक भक्ति-परक मन्त्र, अनेक छन्द, ख्याल और काव्य शैली प्रतिपादित हुई। इससे पंजाबी कविता

1. मोहन सिंह, गुरु गोबिन्द सिंह ऐस० ए० पोस्ट (लाहौर, यूनिवर्सिटी सिक्ख एसोसिएशन, 1932), पृष्ठ 3.

बहुत ऊंचे धरातल पर पहुंच गई।"[1] गुरु गोबिन्द सिंह जी एक सन्त, योद्धा और कवि थे, परन्तु इन तीनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण जीवन उन्होंने तीनों रूपों में ही निभाया है। वे युद्ध में स्वयं जूझते हुए भी......

"धरम चलावन संत उबारन।
दुष्ट सबन को मूल उपारन॥"[2]

का ध्यान रखते हैं और अपने कवि-कर्म का निर्वाह करते हुए युद्ध का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि है कि वह अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध लड़ेंगे।

ईश्वर की शक्ति दुष्टों का दमन करने वाली है, इसका तेज अद्भुत है। यह ही संसार की उत्पत्ति तथा उद्धार करने वाली है। 'विचित्र-नाटक' की यह पंक्तियां उनकी दार्शनिकता को प्रकट करती हैं—

"खडखडं बिलड, खलदल खंड, धतिरण मंड, वरवंड।
भुजदंड अखण्ड, तेज प्रचण्ड, जोति अमण्डं, भानु प्रभं।
सुखसचां करण, दुरमति दरणं, किलपिख हरणं अति सरणं।
जै जै जग कारण, सृष्टि उचारण, मन प्रीति पारण जै तेगे।"[3]

इसी शक्ति से युक्त होने के कारण ईश्वर स्वयं भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है। शक्ति-सम्पन्न ईश्वर का ही नाम काल, महाकाल, ब्रह्मा, विष्णु, शिव है। साहित्य प्रेमी होने के साथ गुरु जी विद्वान् व्यक्तियों के संरक्षक भी थे। पांउटा साहिब में उनके पास 50 से अधिक विद्वान् थे। तलवण्डी में भी बहुत से साहित्यकार उनके सम्पर्क में थे, इसी कारण इस स्थान का नाम 'गुरु की काशी' पड़ गया था।

(ख) 'विचित्र नाटक' में गुरु गोबिन्द सिंह जी वीर योद्धा और महान् सेनानायक के रूप में—

गुरु गोबिन्द सिंह जी एक महान् योद्धा और महान् सेनानायक थे। उनकी वीरता और महान् साहस ने हजारों कायर हिन्दुओं को महान् सेनानायक बना दिया। डा० गोकुलचन्द नारंग लिखते हैं—"वे लोग जिन्होंने तलवार को कभी छुआ नहीं था, गुरु जी के उदाहरण से प्रभावित होकर वीर योद्धा बन गये और उनके नेतृत्व में सिख

1. मोहन सिंह, गुरु गोबिन्द सिंह जी ऐस० ए० पोस्ट (लाहौर युनिवर्सिटी सिक्ख एसोसिएशन, 1932), पृष्ठ 4.
2. गुरु गोबिन्द सिंह, विचित्र नाटक (अमृतसर : शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, दूसरा संस्करण), पृष्ठ 41, चौपाई 43.
3. वही, पृष्ठ 1, छन्द 2.

सेनाओं ने भी बहुत बड़े-बड़े राजाओं और योद्धाओं को नीचा दिखाया।"[1] बहुत सी कठिनाईयों में भी उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा था। 'विचित्र नाटक' में जो उन्होंने युद्धों का सजीव वर्णन किया उनके महान् योद्धा होने का ही प्रमाण है—

घुणं ढोल बज्ज। महासुर बज्जे। करै शस्त्र थावं। चढ़ै चित्त चापं॥
अभय बाजि डारे। परग्घै प्रहारे। करे तेग थायं। चढै चित्त चायं॥
धकै भाट मारं। न संजा विचारं। रूलै तच्छ मुच्छं। करै सुर्ग इच्छं॥"[2]

आनन्दपुर के किले में की हुई लड़ाई उनकी महानता को बताती है। कजान खां के अनुसार—"उन्होंने (गुरु गोबिन्द सिंह जी) सैनिक और शिक्षापरक भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने अनुयायियों में नया जीवन जागृत करने का कार्य किया और गुरु नानक देव जी के सामान्य संस्थान को एक उद्देश्य और निश्चितता प्रदान की।"[3] खालसा की स्थापना से पहले उन्होंने भंगानी, नादौन और हुसैनी के युद्धों में सफलता प्राप्त की और खालसा की स्थापना के बाद आनन्दपुर, चमकौर, मुक्तसर और सिदराना के युद्धों में सफलता उनके महान् सेनानायक होने को प्रकट करती है।

(ग) गुरु गोबिन्द सिंह जी इतिहासकार के रूप में :

गुरु गोबिन्द सिंह जी एक जागरूक इतिहासकार थे। उनमें बहुत अद्भुत रचना शक्ति थी। खालसा की स्थापना उनकी महान् बुद्धि का परिचायक है। भारतीय इतिहास में खालसा की उत्पत्ति एक महान् ऐतिहासिक घटना है, जिसने भारत के इतिहास की दशा ही बदल दी। वह व्यक्ति जिन्होंने तलवार कभी उठाई नहीं थी, अपने अधिकारों के लिए मुगल सम्राट के सामने आये। गुरु गोबिन्द सिंह जी ने औरंगज़ेब की असहनशीलता और धर्मान्धता के विरुद्ध लोगों में जागृति पैदा की। मुगलों से युद्ध किए। औरंगज़ेब को लिखा पत्र 'जफरनामा' ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। डा० कुलदीप चन्द अग्निहोत्री के अनुसार—'अशान्ति की अव्यवस्था का यह वातावरण सन् 1500 से 1700 तक व उससे आगे के इतिहास का स्मरण है। इस काल की एक सौभाग्यशाली आश्चर्यजनक बात यह रही कि इस लम्बे काल में अत्याचारों व संघर्षों की कहानी समानान्तर चलती रही। प्रत्येक काल खण्ड में मुगलों के इन अत्याचारों व अन्यायों को ललकारने वाला कोई न कोई आता रहा,

---

1. गोकुल चन्द नारंग, ट्रांसफारमेशन आफ सिक्खइज़म (वाल्यूम 5), (न्यू देहली : न्यू बुक सोसायटी आफ इंडिया, 1960), पृष्ठ 161.
2. गुरु गोबिन्द सिंह, विचित्र नाटक (अमृतसर : शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, दूसरा संस्करण), पृष्ठ 68, छन्द 6, 7, 8.
3. कज़ान खां, हिस्ट्री आफ दा सिक्ख रिलिजन (चण्डीगढ़ : ग्रेटर पंजाब प्रैस, 1970), पृष्ठ 171.

फिर चाहे उसे शीश कटवाना पड़ा, चाहे बालू पर तपना पड़ा। बाबर से प्रारम्भ हुए मुगल शासन के साथ ही पंजाब में गुरुओं की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने प्रत्येक स्तर पर मुसलमानों का सामना किया, आध्यात्मिक स्तर पर भी और सैनिक स्तर पर भी।"[1] इससे स्पष्ट है कि मुगल सम्राटों के अत्याचार और अन्याय को ललकारने के लिए कोई न कोई आता रहा। अत्याचारों के विरुद्ध गुरु गोबिन्द सिंह जी भी आये, जिन्होंने इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। जिसमें सिक्ख धार्मिक व्यक्तियों के साथ सैनिक भी थे।

(घ) **'विचित्र-नाटक' में गुरु जी धार्मिक नेता के रूप में—**

'विचित्र नाटक' में गुरु जी एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में उभरे हैं। गुरु नानक जी और बाबर के उत्तराधिकारियों में कोई शत्रुता नहीं है, पहले धार्मिक नेता हैं और दूसरे राजनीतिक शासक। गुरु जी ने धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए प्रयत्न किये। उन्होंने अपनी प्रेरणामय भाषा में हिन्दुओं को ईश्वरवाद का उपदेश दिया। अछूत और निम्न जातियों से अच्छा व्यवहार करके उन्होंने बताया कि इन लोगों को अपने से दूर रखना कितना हानिकारक है, जो उन्होंने सुधार किये वे अभी तक एक महान् आदर्श बने हुए हैं और भविष्य में भी लोगों का पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे। उन्होंने खालसा पन्थ की स्थापना करके सभी जातियों को एक कर दिया। 'विचित्र नाटक' की यह पंक्तियां उनके धार्मिक होने के स्पष्ट प्रमाण देती हैं—

"कालहिं पाह भयो भगवान् सु जागत या जग आकि कला है।
कालहि पाह भयो ब्रह्मा सिब कालहि पाह भयो बुगिआ है।
कालहि पाह सुरासुर गंध्रव आछ भुजंग थिसा बिदिसा है।
और सुकाल सबै बस काल के एकहि काल अकाल सदा है॥"[2]

दर्शन सिंह मैनी के अनुसार—"गुरु गोबिन्द सिंह समस्त मानवता से प्यार करते थे। सभी धर्मों का सम्बन्ध उसी परमात्मा से है। उन्होंने नम्र और निम्न वर्ग में रोटी बांटी। वह उनके घर पहुंचे और उन्हें प्रसन्नता और आराम पहुंचाया।"[3] गुरु जी वास्तव में धार्मिक व्यक्ति और प्रभु-भक्त थे, जो भी इन्होंने किया वह धर्म को सामने रखकर अर्थात् धर्म के नाम पर ही किया।

(अध्यक्षा, हिन्दी विभाग, बी. बी. के. ई. एण्ड आई. विद्यालय, अमृतसर)

---

1. कुलदीपचन्द अग्निहोत्री, गुरु गोबिन्द सिंह जी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्ज़, 1980), पृष्ठ 19.
2. गुरु गोबिन्द सिंह, विचित्र नाटक (अमृतसर : शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, दूसरा संस्करण), पृष्ठ 13, सवैया 84.
3. दर्शन सिंह मैनी, ए बायग्रोफिकल स्केल आफ गुरु गोबिन्द सिंह (चण्डीगढ़ : गुरु गोबिन्द सिंह फाउंडेशन, 1967), पृष्ठ 24.

लोक तात्त्विक शोध और लोक-गीत : शिल्प विधान

—डा० निर्मल कौशिक

लोक तात्त्विक-शोध :—किसी भी देश की संस्कृति जिसे लोक-संस्कृति कहते हैं—उन असभ्य और अशिक्षित समझे जाने वाले मनुष्यों के प्राणों का स्पन्दन होता है, जो वहां की जनसंख्या का विशाल अंग होते हैं। इन्हीं तथाकथित अशिक्षितों और असभ्यों के सामाजिक जीवन के विविध पहलू, पारिवारिक जीवन के बहुरंगी चित्र, अपनी अटूट परम्परा के कारण उन तत्त्वों का रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें लोकतत्त्व कहा जाता है।"[1] ऐसे लोगों में जीवन को बिल्कुल सादा ढंग से जीने की एक तीव्रता होती है। ये अपनी पूर्व परम्परा को थाती के रूप में संभाल कर आने वाली पीढ़ी को सौंपने में कुशल होते हैं। ऐसे समाज को लोक कहा जाता है और लोकाभिव्यक्ति के तत्त्वों को लोकतत्त्व। डा० सत्येन्द्र के अनुसार लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात संस्कार, राष्ट्रीयता और पांडित्य अहंकार से शून्य है, जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।[2] इन्हीं लोकतत्त्वों का अध्ययन, संकलन, निरीक्षण, परीक्षण, विवेचन, विश्लेषण ही लोकतात्विक शोध कहलाता है।

लोक-तात्त्विक अनुसंधान लोक साहित्य के अन्तर्गत छिपे लोकमानस के रहस्यों का उद्घाटन करता है, जिसका विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। शोधकृति में गहरे पेठ कर लोकमानस का, उसकी अभिव्यक्ति और प्रक्रिया का उससे प्रतिफलित स्वरूप का उद्घाटन करना। इस शोध का यह धर्म भी है कि किसी भी अभिव्यक्ति में लोक-मानस के सूत्रों से लिपटे अन्य मानस सूत्रों को विश्लेषित कर उन्हें अलग कर देना या उसके योगदान का मूल्यांकन करना।[3]

---

1. रवीन्द्र भ्रमर, पद्मावत में लोकतत्व (इलाहाबाद : मिश्र प्रकाशन प्रा० लि० 1962), पृ० 20—22.
2. हिन्दी साहित्य कोश (भाग—1), सम्पादक वीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञान मण्डल प्रकाशन, 2627 वि०), पृष्ठ 685.
3. सत्येन्द्र, लोकतात्त्विक शोध संभावना, शोध विशेषांक, सम्पादक, रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, अंक 5—6, वि० वि० कुरुक्षेत्र, पृ० 181.

एक भ्रम यह हो सकता है कि लोकतात्विक अध्ययन केवल वस्तु के अध्ययन तक ही सीमित रहता है। वास्तविकता यह है कि इस अध्ययन का क्षेत्र साहित्य के कथ्य, उसकी रचना-प्रक्रिया, उसके प्रतीक-विधान तथा अन्य संरचनात्मक तत्त्वों तक विस्तृत है।[1] दूसरे शब्दों में लोकतात्विक शोध की प्रणाली वह प्रणाली है, जिसके माध्यम से प्रचलित लोकवाणी, लोककथा, लोक गाथा, लोकगीत, लोकनाट्य, लोक सुभाषितों, लोक-पहेलियों एवं लोकोक्तियों का लोक-तात्त्विक दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण किया जाता है।

अन्य शोध प्रकारों से व्यवच्छेदकता :—आज के वैज्ञानिक युग में शोध का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण साहित्य के क्षेत्र में भी शोध की अनेक प्रणालियां प्रचलित हैं। मुख्य रूप से शोध के निम्न प्रकार हैं :—

1. ऐतिहासिक शोध, 2. तुलनात्मक शोध, 3. वर्णनात्मक शोध, 4. लोक-तात्त्विक शोध, 5. क्षेत्रीय शोध, 6. भाषा-तात्त्विक शोध।

साहित्य लेखक की रचना प्रक्रिया में लोकमानस की क्रियाओं का योग रहता है। इसी तथ्य में लोकतत्त्व की सम्भावना सन्निहित है। मगर लोकमानस संगृहीत मानस से भिन्न है और उपार्जित मानस से भी भिन्न है।[2] यही कारण है कि लोक-साहित्य की शोध-प्रक्रिया भी अभिजात साहित्य की शोध प्रक्रिया से भिन्न है, क्योंकि लोक-साहित्यिक शोधकर्त्ता को लोक का प्रत्यक्ष निरीक्षण और परीक्षण करना होता है।[3] जहां तक अन्य शोध प्रकारों से लोकतात्त्विक शोध की व्यवच्छेदकता का प्रश्न है। यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि इसके कुछ उपांग दूसरे प्रकारों से भी सहायता लेते हैं यथा लोक रचना का काल-निर्णय ऐतिहासिक शोध, क्षेत्र-निर्णय, क्षेत्रीय शोध तथा भाषा-अध्ययन, भाषा-तात्त्विक शोध के माध्यम से ही सम्भव है। अन्य प्रदेश के लोक साहित्य की तुलना के तुलनात्मक पद्धति ही अपेक्षित है। मगर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि लोक-तात्त्विक शोध का भिन्न अस्तित्व ही नहीं है। इस सन्दर्भ में यह अपना मूल रूपेण विस्तृत क्षेत्र, सीमाएं एवं वातावरण लिए हुए है। लोकतात्त्विक शोध का विषयगत विस्तार बहुत अधिक है। भारत में लोकतात्त्विक शोध के लिए

---

1. विजयपाल सिंह, हिन्दी अनुसंधान (दिल्ली : राजपाल एण्ड संज, 1978), पृष्ठ 174.
2. वही, पृष्ठ 185.
3. देवराज उपाध्याय, साहित्यिक शोध के सिद्धान्त और समस्यायें (आगरा : सरस्वती पुस्तक सदन, 1967), पृष्ठ 89.

पर्याप्त सामग्री, सुविधाएं और वातावरण मौजूद है ।[1] अत: लोकतात्त्विक शोध विषय प्रतिपादन, सामग्री, सिद्धान्त और उद्देश्य की दृष्टि से अन्य शोध प्रकारों से सर्वथा भिन्न है ।

विशिष्ट शोध-प्रकारों से अन्त: सम्बन्ध :—लोक-तात्त्विक शोध का शोध के अन्य प्रकारों से निकटवर्ती सम्बन्ध होते हुए भी इसकी अपनी भिन्न सत्ता एवं अस्तित्व है । यही इसकी लोकप्रियता एवं निरन्तर प्रगति का मूल कारण है । अन्य शोध प्रकार इसके सहायक बन कर इसे और अधिक सुविधाजनक एवं महत्त्वपूर्ण बना देते हैं । यह क्षेत्रीय शोध प्रणाली के अधिक निकट जान पड़ता है । क्योंकि लोक-साहित्य क्षेत्र विशेष से जुड़ा होता है । अत: लोकतात्त्विक शोध की व्यापक परिधि में क्षेत्रीय शोध का तात्पर्य है, एक क्षेत्र विशेष को चुन कर उसके साहित्यिकों, साहित्यिक धाराओं, उसके लोक साहित्य या बोली रूपों का सर्वेक्षण और वर्णन करना ।[2]

इसी प्रकार ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि शोध-प्रकारों से भी लोकतात्त्विक शोध प्रणाली का सम्बन्ध है ।

लोक-साहित्य और उसके विविध प्रकार :—सभ्यता के प्रभाव से कोसों दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दु:ख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में होती है, उसी को लोक-साहित्य कहते हैं ।[3] अंग्रेज़ी में फोकलोर शब्द इसके लिए प्रयुक्त हुआ है । यह अंग्रेज़ी फोकलोर का हिन्दी रूपान्तर है ।[4] लोक-साहित्य में लोक जीवन की वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है । अतएव लोक-साहित्य से अभिप्रेत होगा । लोक-मानस की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, जिसमें संस्कृति लोक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है तथा जिसका प्रकटीकरण वार्ता, गीत, गाथा, कथा, नृत्य, टोने, टोटके आदि में हुआ है ।[5] सम्पूर्ण लोक साहित्य को राहुल सांस्कृत्यायन ने अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न वर्गों में विभक्त किया है :—

1. लोक-गीत, 2. लोक-गाथा, 3. लोक-कथा, 4. लोक-नाट्य, 5. लोक-सुभाषित ।

---

1. विजय पाल सिंह, हिन्दी अनुसंधान (दिल्ली : राजपाल एण्ड संज़, 1978), पृष्ठ 175.
2. वही, पृष्ठ 93.
3. राहुल सांस्कृत्यायन, हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत 2017 वि० भाग 16), पृष्ठ 16.
4. वही ।
5. वही, पद टिप्पणी नं० 1, पृष्ठ 51.

इससे स्पष्ट है कि लोक-साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

लोक-साहित्य के विविध प्रकारों में लोक गीत का स्थान :—लोक-साहित्य का सब से पुष्ट भाग गीत है।[1] इसका प्रमुख कारण यह है कि लोक-गीत मानव-जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूति का सरलतम अभिव्यंजक है। ये स्वत: नि:सृत-भावों का साकार रूप है। जनमानस की अभिव्यक्ति भले ही सम्पूर्ण लोक-साहित्य में व्याप्त होती है। मगर लोक-गीत निजत्व की विशिष्टता लिए हुए हैं। वैसे तो लोक-कथा भी जीवन के अधिक निकट होती है तथा लोकगाथा में भी वैयक्तिकता की प्रधानता होती है। मगर इनमें कल्पना का पुट भी होता है और शब्दाडम्बर एवं कृत्रिमता का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि लोकसाहित्य में ये महत्त्वपूर्ण नहीं है। मगर लोक-गीत की स्वाभाविकता एवं कृत्रिमता को स्वीकारते हुए इन्हें लोकवार्ता का या लोक-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों का प्रमुख एवं सर्वश्रेष्ठ स्थान है। जनजीवन के अति निकट एवं व्यापक होने के कारण इनकी प्रधानता स्वाभाविक है। लोकगीत लोकमानस की व्यक्तिगत और सामूहिक सुख-दु:ख की लयात्मक अभिव्यक्ति होते हैं।[2] यह निर्विवाद है लोक-साहित्य और विशेषकर गीतों में जो इसकी परिपक्वता है वह साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं है।[3]

लोक-गीत :

लोक-गीत : विधेयात्मक स्वरूप :—लोक गीत जनमानस से अनुस्यूत होने के कारण मानव जीवन की दैनिक जीवन की व्यावहारिक एवं वास्तविक झांकी प्रस्तुत करते हैं। इन्हें किसी अंचल या क्षेत्र विशेष की मुंह बोलती तस्वीर कहा जा सकता है। लोक गीत लोक विषयक ही होते हैं। उनमें लोक-जीवन की झांकियां रहती हैं। जनसाधारण के भाव, विभिन्न प्रसंगों व परिस्थितियों में निहित होते हैं। इस प्रकार जीवन के विविध पक्षों का स्वरूप गीतों में प्रतिबिम्बित है।[4] दूसरे शब्दों में कहना चाहें, तो लोक-जीवन की सरलतम, स्वाभाविक एवं सहज अभिव्यक्ति का नाम ही लोक-गीत है।

---

1. विजयपाल सिंह, हिन्दी अनुसन्धान (दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज, 1978), पृष्ठ 213.
2. रवीन्द्र भ्रमर, हिन्दी के भक्ति-साहित्य में लोकतत्त्व (दिल्ली : भारतीय साहित्य मन्दिर, 1965), पृष्ठ 6.
3. सरोजनी रोहतगी, अवधी का लोक-साहित्य (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1971), पृष्ठ 8.
4. वही, पृष्ठ 148.

लोक-गीतों के माध्यम से उस क्षेत्र विशेष की सभ्यता, संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, पारिवारिक स्थिति का अध्ययन किया जा सकता है। हमारे लोक-गीत, लोक-जीवन के सारे तत्त्वों को उभारने वाले, उन पर प्रकाश डालने वाले, सीधे-सादे, सच्ची भावनाओं को प्रकट करने वाले गीत हैं।[1]

लोक-गीत : निषेधात्मक स्वरूप :—लोक-गीत जीवन की स्वाभाविकता की स्वच्छन्दता में उत्पन्न, पल्लवित व विकसित होने के कारण किसी भी नियम या सिद्धान्त की पकड़ में आ पाने से घुटन अनुभव करता है। इसके विपरीत कलागीत में एक निर्धारित भाषा, अलंकार एवं छन्द विधान का नियोजन अपेक्षित है। कलागीत साहित्य के मूलभूत काव्यगुणों को अपनाने के कारण ही जीवन के उतना निकट नहीं आ पाता। उसमें स्वाभाविकता एवं वैयक्तिक अनुभूति का अभाव खटकता रहता है। इसके विपरीत लोकगीतों में यह बाह्याडम्बर नहीं होता है। यह छन्दों और अलंकारों का बोझ सहन नहीं कर पाता है इसमें शब्दजाल का भी परहेज अपेक्षित है। इनमें साहित्यिक (कला) गीतों की सी कला और शिल्प विधान न होकर सहज-प्रवृत्त एवं मार्मिक सौन्दर्य होता है। अत: लोकगीत कलागीतों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र, स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक हैं। लोकगीत की रचना सामूहिक होती है, मगर कलागीत मात्र वैयक्तिक होते हैं। निष्कर्षत: लोकगीत, कलागीत नहीं हैं।

लोक-गीत : व्यापकता, विविधता और गहनता :—व्यापकता का अर्थ है दूर तक, सर्वत्र फैला हुआ, जो किसी चीज के सारे विस्तार में हो, आच्छादक जिसका क्षेत्र विस्तृत हो[2] और गहनता का अर्थ है, गम्भीरता या गहराई।[3] विविधता का अर्थ लोकरूपता है। भाव यह कि गहनता बहुत गहरे जाकर अपना प्रभाव फैलाती है और देर तक बनी रहती है। लोकगीतों का विधिवत् अध्ययन करने से ये दोनों गुण उनमें पाए जाते हैं। ये आकाश की तरह निस्सीम और सागर के समान गहन है। लोकगीतों का प्रसार एवं विस्तार इतना अधिक है कि जीवन का कोई पक्ष, भाव या व्यापार ऐसा नहीं है, जो लोकगीतों की सीमा में न आता हो।[4] जहां तक कि प्रत्येक ऋतु, संस्कार एवं क्रिया पर लोकगीत मिलते हैं। ग्राम में हजारों लोकगीत कण्ठों पर

1. श्रीकृष्ण दास, लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या (इलाहाबाद : साहित्य भवन, प्रा० लि०, 1956), पृष्ठ 7.
2. वृहत् हिन्दी कोश, सम्पादक कालिका प्रसाद (वाराणसी : ज्ञानमण्डल लि० संवत 2023), पृष्ठ 1322.
3. वही, पृष्ठ 375.
4. राममूर्ति शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी और उनका साहित्य (नई दिल्ली : आर्य बुक डिपो, 1972), पृष्ठ 365.

बिखरे हुए हैं। प्रत्येक विषय के, प्रत्येक समय के और प्रत्येक भावों के गीत उपलब्ध हैं।[1] विविधता से अभिप्राय है कि एक ही पर्व के एक विशेष गीत के हमें एक ही क्षेत्र में अनेक रूप मिलते हैं।

लोकगीत अपने में काल की असीमता लिए हुए हैं। प्रत्येक काल के गीत लोक-साहित्य में उपलब्ध हैं। जन्म से मृत्युपर्यन्त कोई भी क्षण ऐसा नहीं है, जिस अवस्था या क्रिया पर कोई न कोई गीत न रचा गया हो। यहां तक कि प्रत्येक संस्कार और प्रत्येक क्षेत्र के उत्सवों और पर्वों पर अनेकानेक गीत गाए जाते हैं। यहां तक कि एक ही क्षेत्र में एक ही पर्व या संस्कार के अनेक गीत प्रचलित हैं। कुछ ऐसी जातियां भी हैं, जिनमें गीत विशेष को गाने की प्रथा है। विभिन्न कार्य करते समय परिश्रम जन्य थकावट दूर करने के लिए भी कुछ गीत गाए जाते हैं।[2] अतः लोकगीतों में जहां स्वाभाविकता एवं प्राकृतिक गुणों का सामंजस्य रहता है, वहां इनकी गहनता भी असीम है।

लोक-गीत : प्रभावान्विति :—लोक-गीतों की व्यापकता, विविधता एवं गहनता के साथ ही इनकी प्रभावान्विति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लोकगीत वैयक्तिक जीवन के अति निकट है। इसका कारण यह है कि गीत व्यक्ति की भावना की हिलोर से जन्म लेता है। वह हिलोर मनुष्य की अनुभूतियों को सहसा भंवर की भांति आलोड़ित कर देती हैं।[3] ये गीत वैयक्तिक होते हुए भी सामूहीकरण से युक्त होते हैं। सामुदायिकता इनका प्रधान गुण है। सामुदायिकता के कारण ही गीत सरस एवं मोहक हो जाते हैं। भले ही उनमें छन्द-दोष हो, अलंकार योजना सुव्यवस्थित न हो, परन्तु अपनी साधारणीकरण की शक्ति को लिए हुए अपने रस से आप्लावित ये गीत अत्यन्त मोहक बन जाते हैं।[4] यही तो मानव का चरम लक्ष्य है जो वह गीतों के माध्यम से सहज ही पा लेता है तभी तो ये जीवन के इतने निकट हैं। गेयता लोक-गीतों की प्रभावोत्पादक शक्ति है। यही गुण उसे अन्य विधाओं से पृथक् करता है। गीत गाने के बाद अथवा गाने से पूर्व उसकी लय या धुन मस्तिष्क में मण्डराने लगती है। इन्हीं गीतों द्वारा भावों की अनुभूति में, स्वरों के आलाप में अभिव्यंजना की

1. श्याम परमार, मालवी लोक साहित्य (इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1964), पृष्ठ 33.
2. राहुल सांस्कृत्यायन, हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा 2017 वि०, भाग—16), पृष्ठ 52.
3. श्रीधर मित्र, भोजपुरी, लोक साहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन (इलाहाबाद : हिन्दुस्तान एकेडमी, 1971), पृष्ठ 365.
4. वही।

सरल और सशक्त प्रणाली में कुछ ऐसी न प्रकट होने वाली शक्ति छिपी है, जो हमारे निस्तर भावों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है और मानव रस में डूब जाता है।[1]

शिल्प-विधान—अभिप्राय और अभीष्ट : सोद्देश्यता :—साधारण शब्दों में 'शिल्प' का अर्थ है—'हाथ से कोई चीज बनाकर तैयार करने का काम, दस्तकारी, कारीगरी अथवा कला सम्बन्धी व्यवसाय।'[2] जिसके अनुसार किसी भी निर्मित कृति का कलात्मक रूप सामने आता है। भाव यह कि कला का उत्तमोत्तम नमूना शिल्प है।

विधान का अर्थ है, किसी कार्य का आयोजन, अनुष्ठान, व्यवस्था, प्रबन्ध, विधि, प्रणाली, पद्धति, रचना, निर्माण, प्रयुक्ति आदि।[3] किसी भी कार्य को नियमित रूप से किसी व्यवस्था एवं प्रणाली के अन्तर्गत (निर्मित) करना ही विधान कहलाता है। वैसे तो कोई अनियमित एवं व्यवस्थित नहीं होता, लेकिन तो भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसका विधान अनिवार्य होता ही है। अत: शिल्प विधि का अर्थ हुआ किसी भी हस्तकला, मूर्तिकला अथवा अन्य का पूर्व निर्धारित, व्यवस्थित व नियमित प्रणाली द्वारा निर्माण एवं प्रस्तुतीकरण। शिल्प विधि का बोध अंग्रेजी के टेकनीक (Technique) शब्द से किया जाता है। टेकनीक का अर्थ है—ढंग, विधान तरीका, जिसके माध्यम से किसी लक्ष्य की पूर्ति की गई हो—कला के क्षेत्र में इस लक्ष्य से अभिप्राय है, सम्पूर्ण भावाभिव्यक्ति का प्रकार। कला के विभिन्न तत्त्वों अथवा उपकरणों की योजना का यह विधान, वह ढंग जिसमें कलाकार की अनुभूति अमूर्त से मूर्त हो जाए।[4] शिल्प विधान का अर्थ ही यह है कि वह विषयवस्तु के साथ ऐसा मेल खाए कि विषय-वस्तु उसी के भीतर आकर रहे, उसके बाहर न जाए। अनुहार के लिए आभ्यन्तर प्रयत्न ही शिल्प विधान है।[5]

लोक-गीतों की वाचिकता और सांगीतकता की सुरक्षा :—विधा के अध्ययन के

---

1. श्रीधर मित्र, भोजपुरी, लोक साहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन (इलाहाबाद : हिन्दुस्तान एकेडमी, 1971), पृष्ठ 364.
2. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, सम्पादक रामकुमार वर्मा (काशी : ना० प्र० सभा, संवत् 2024) पृष्ठ 945.
3. वही, 7वां संस्करण, पृष्ठ 945.
4. कैलाश बाजपेयी, आधुनिक हिन्दी कविता का शिल्प (दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्ज़, 1963), पृष्ठ 19.
5. विद्यानिवास मिश्र, परम्परा बंधन नहीं (दिल्ली : राज पाल एण्ड संज़, 1976), पृष्ठ 56.

प्रमुख पक्ष हैं—विषयवस्तु, शिल्पविधान और भाषा शिल्प विधान ही एक ऐसा माध्यम है जिसके आधार पर हम लोकगीत की पूर्णता की पहचान कर सकते हैं।

लोकगीतों के शिल्पविधान पर किया जाने वाला शोध कार्य लोकगीतों की उपयुक्त वाचिकता को सुरक्षित रखता है साथ ही उसके सांगीतिक महत्त्व को भी बनाए रहता है। इसके अभाव में सांगीतिक सूक्ष्मता के खो जाने का संकट सामने आ सकता है।

लोक साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है मगर इन सब में महत्त्वपूर्ण विधा है लोकगीत और इसमें से इसका शिल्पविधान लोकगीतों की वाचिकता और सांगीतिकता की दृष्टि से अध्ययन विवेचन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

लोक-तात्त्विक शोध का उपेक्षित भाग :—लोक-गीतों के शिल्प-विधान का अध्ययन इतना सूक्ष्म और जटिल है कि अभी तक कुछ गिने-चुने विद्वानों के अतिरिक्त इस पर अधिक काम नहीं किया जा सका।

आवश्यकता है इस ओर ध्यान देने की और इसमें छिपी अपनी संस्कृति को पहचानने तथा उसे संभालने की। अपनी जाति को कोई जाति प्रकट किए बिना नहीं रह सकती, उसी तरह अपने साहित्य में भी वह अपनी संस्कृति को किसी न किसी रूप में व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता।[1] इस क्षेत्र में यदि कार्य शीघ्र नहीं किया गया तो सिनेमा और रेडियो की कृपा से मिले लय और ताल की बम में इसकी सार्थक लय ताल विलुप्त हो जाने की पूरी आशंका उपस्थित है। अत: लोकगीतों की सम्पदा में निहित भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए लोकतात्त्विक शोध के अन्तर्गत लोकगीतों के शिल्पविधान के सूक्ष्य अध्ययन की परमावश्यकता है।[2]

(प्रवक्ता : सरकारी बृजेन्द्र कालेज, फरीदकोट)

---

1. विद्यानिवासमिश्र, परम्परा बंधन नहीं (दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज, 1976), पृष्ठ 63.
2. वही, पृष्ठ 65.

रांगेय राघव के नाटकों में मानवतावाद

—प्रो० श्रीमती मीनाक्षी

साहित्य-सृजन सदैव उद्देश्य-प्रेरित होता है। स्वाभाविक है कि आज के सन्दर्भ में यह उद्देश्योंन्मुखता मानव और उसकी मानवता के विविध-आयामों को उद्घाटित करने और उसकी वांछित प्रतिष्ठा को स्वर देने में निहित रहती है। इसी प्रयास से कई बार वाद-बद्ध लेखन की शुरुआत भी होती है—वैसे भावार्थवादी, अस्तित्ववादी, यथार्थवादी और एबसर्ड लेखन इत्यादि। दूसरी ओर कुछ साहित्य ऐसे होते हैं जो चिन्तन की इन विशिष्ट धाराओं से मुक्त रह कर सभी की मानवोपयोगी क्षमताओं में विश्वास रखते हैं और उनके समाहार को अपनी साहित्य-सेवा में यथा-स्थान अभिव्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में हर प्रकार की भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक सीमाओं से परे विराजती है। विशुद्ध मानवता जिसे देश-काल के दायरों में घेरा नहीं जा सकता और जिसका हित चिन्तन ही साहित्य का लक्ष्य होता है। मोटे तौर पर इस दूसरी कोटि के साहित्य सृष्टाओं के लेखन का मूल स्वर मानवतावाद होता है। नाटककार रांगेय राघव को भी इन्हीं मानवतावादी लेखकों की अग्रिम पंक्ति में रखकर मूल्यांकित किया जाना चाहिए। यद्यपि मार्क्सवादी चेतना और सामाजिक प्रतिबद्धता उनके लेखन की बलवती दृष्टियां नहीं हैं तथापि इनका प्रयोग उन्होंने अपने मानवतावादी चिन्तन के विकासार्थ ही किया है। अत: उनके नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य मानवतावाद है।

समस्त भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य में मानवतावाद का स्वरूप प्राप्त होता है। साहित्य में व्यक्त ये समस्त भावनाएं जो मानव-जीवन के विकास-क्रम में योग लेने वाली हैं अथवा वे क्रियाएं जो मानव की मूल प्रकृतियों का सम्यक पोषण एवं संवर्द्धन करती हैं, मानवतावाद के अन्तर्गत ली जायेंगी। भारतीय साहित्य में यद्यपि इसे वाद के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया, फिर भी इसका दर्शन हमें साहित्य में सिद्धान्त रूप से यत्र-तत्र सर्वत्र प्राप्त होता है। इसकी विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(क) आशा का स्वर :—मनुष्य अनिवार्यत: आध्यात्मिक जीव है। उसे इस भटकाव में केवल एक उचित दिशा निर्देश देने के लिए पाश्चात्य तथा भारतीय विचारकों ने आशा का स्वर दिया ताकि वह अपने वास्तविक यथार्थ को पहचान सके, और गहन मानवीय संकट टल सके, जिससे मनुष्य के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों और

दायित्वों के बारे में हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। इसके साथ ही मानवतावादी चिन्तकों ने अपने युग की समस्याओं का निदान भी प्रस्तुत किया है। मानव जाति के बढ़ते हुए कष्टों, आर्थिक दरिद्रता की तीव्रता तथा बढ़ता के कारण सारे संसार में एक नई भावना का उदय हुआ है। आशा का स्वर मानवतावाद की प्रमुख विशेषता है।

(ख) **समन्वय** :—जीवन के प्रतीयमान विरोधों में सामंजस्य की स्थापना हमारी भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता रही है। इसमें मानव-समानता तथा उनकी सेवा में साम्य-भावना की मांग की गई है। दूसरों के साथ तादात्म्य या एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की परम मनुष्यता है। हृदय और बुद्धि, सुख और दुःख, निवृति और प्रवृति तथा मन और देह—इन सभी तत्वों का एक विराट स्तर पर समन्वय ही मानवतावाद का अभीष्ट है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से लेकर आज तक व्यक्ति का यही आदर्श उत्तम माना गया है और उसी के द्वारा सामंजस्यपूर्ण स्थिति की कल्पना की गई है।

(ग) **मानवता में अडिग विश्वास** :—मानवतावाद में आद्यन्त जिस स्वर की विद्यमानता निर्विवाद है, वह मानवता का ही स्वर है। मानव की मानवता पशु सामान्य मनोवृत्तियों को उत्तेजित करने में नहीं वरन् उसकी साधना, तपस्या में है। इसके अन्तर्गत मानव के हित-चिन्तन में निरत रहते हुए, समष्टि की सापेक्षता में अपनी व्यष्टि के महत्त्व भूल जाना, अन्य मानवों का कल्याण करते हुए अपने व्यक्तिगत सुखों का उत्सर्ग कर देना ही मानवता है। वास्तव में मानवता का अर्थ मानव धर्म है जिसके अन्तर्गत मानवता के दस उपकरणों की चर्चा होती है। ये क्रमशः सत्य, अहिंसा, शिष्टता दूसरे के दृष्टिकोण को महत्त्व देना, पर-स्वाभिमान रक्षा, सहिष्णुता, आत्मोपम्य दृष्टि, परगुण-ग्राहकता, निर्बल पर बल प्रदर्शित न करना, अधिकार भावना का त्याग हैं। मानवता की भावना मनुष्यों या मानवों या इन्सान तक ही सीमित नहीं है। यह विश्व-व्यापक है। सर्व खल्विदं ब्रह्म का आदर्श ही वास्तविक मानवता है। अतः हम कह सकते हैं कि मानवतावादियों ने अपने दर्शन में मानवता में अडिग आस्था दिखाई हैं।

(घ) **यथार्थपरक आध्यात्मिकता** :—मानवतावादी चिन्तक किसी ऐसी आत्मिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास नहीं करता, जिसका सम्बन्ध हमारे यथार्थ से नहीं है। आत्मा की अखण्डता ही सामाजिक अभिव्यक्ति की मानवता है और इस मानवता के प्रति ही मानवतावादी का आग्रह होता है। परिणामस्वरूप यह आध्यात्मिकता में विश्वसनीयता पर सदैव बल देता है और उन तत्वों का खण्डन करता है वह एक बड़े आदर्श को निर्मित करते हैं। वस्तुतः आध्यात्मिकता के प्रति

यह उसका मध्यम मार्ग होता है जिसे अपनाकर यह अधिक दूर तक अपने विचारों का प्रसार करती है।

(ङ) **विश्व-बन्धुत्व की कल्पना :**—मनुष्य की प्रकृति में सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा, नैतिक आकांक्षा है, दूसरों के प्रति प्रेम तथा सहयोग और अपने स्वरूप से भी कहीं बड़ी सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की प्रवृत्तियां भी होती हैं। यह मानवतावाद की प्रमुख विशेषता है। साधारणत: पंथक पकड़ों से स्वत: शुद्ध सात्विकता से पराभूत होकर स्नेह, सहानुभूति और प्रेरणा के सहारे विश्व भ्रातृत्व का जो प्रासाद खड़ा किया जाता है उसी को मानवतावाद के अन्तर्गत किया जाता है। विश्व-बन्धुत्व को जातीय, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सीमाओं से परे मानुषिक सम्बन्धों के चश्मे से देखने के सिद्धान्त का नाम ही मानवतावाद है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही इसकी प्रधान विशेषता है। टालसटाय ने अपनी 'कला क्या है' नामक पुस्तक में बतलाया है कि वे ही रचनाएं कला मानी जायेंगी जो मनुष्य को भ्रातृत्व में बांधने वाली भावनाएं व्यक्त करेंगी अथवा जिनमें सार्वभौम एकता का प्रतिपादन होगा।[21] एक वाक्य में हम मानवतावाद को वह व्यापक दृष्टिकोण कह सकते हैं जिसमें प्रवेश करके सभी मनुष्य अपनी संकीर्णता को त्यागकर विश्व-बन्धुत्व की भावना से समन्वित हो जाते हैं।

(च) **मानवेतर प्राणियों के प्रति सहानुभूति :**—मानवतावादी सिद्धान्त सार्वभौम सहानुभूति की अत्यन्त व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। मनुष्य मात्र ही इस सहानुभूति के विषय नहीं हैं, वरन् समस्त जीवनगत योग्यतानुरूप इसका पात्र है। इसके अन्तर्गत मात्र प्रेम एवं जीव-दया दोनों का समावेश है। मानव की करुणा स्थिति के साथ-साथ अन्य पीड़ित प्राणियों के प्रति भी संवेदना को प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए क्योंकि मनुष्य के मन में अन्य प्राणियों के प्रति स्वभावत: ही एक प्रकार की सदिच्छा होती है। पाश्चात्य चिन्तकों ने यह स्वीकार किया है कि मानवतावाद समस्त जीवों के प्रति दयाभाव है और हितेच्छा को प्रतिष्ठित और विकसित करने वाला एक प्रगतिशील दर्शन है। प्राचीन भारतीय जीवन में मानवेतर प्राणियों के प्रति सहानुभूति को मानव की परमगति ही सम्पत्ति माना गया है क्योंकि इससे जिस उच्चतर आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी के आश्रय से ही अन्य प्राणियों को जीने का अवकाश प्राप्त होता है।

(छ) **नैतिकता की प्रतिष्ठा :**—व्यक्ति के लिए नैतिकता के दोनों रूपों वैयक्तिक एवं नागरिक की समान महत्ता स्वीकार की गई है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है तथा दोनों के समुचित सामंजस्य के बिना जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। तप, करुणा, क्षमा, विनय और त्याग आदि वृत्तियों का जीवन में निर्विवाद महत्त्व

---

1. वट इज़ आर्ट : टालसटाय, चैप्टर 16, पृष्ठ 163.

एवं मूल्य है, क्योंकि व्यक्ति की नैतिकता के ये अनिवार्य अंग हैं। किन्तु, जीवन में ऐसी परिस्थितियों का भी अभाव नहीं, अब समुदाय के रक्षार्थ हमें इन गुणों की अवहेलना करनी पड़ सकती है। मानवतावाद नैतिकता की भावना से ही क्रमशः आगे विकसित होता है।

(ज) मूल्य प्रतिष्ठा :—मानवतावादी दृष्टि सदैव मूल्य प्रतिष्ठा में विश्वास रखती है जिसके परिणामस्वरूप वह साहित्य को मन के प्रसाद का उपकरण मात्र न मानकर मानवता के उन्मनन का साधन मानती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानवतावादी साहित्यकार उपदेशक होता है अथवा किसी प्रकार की रूढ़िवादिता को प्रश्रय देता है। वह अवांछित मूल्यों के विघटन और नए अपेक्षित मूल्यों के संघटन में निरन्तर विश्वास रखता है, मगर उसी सीमा तक यहां इसके द्वारा मानवतावादी परम्परा सुविकसित होती है। यही कारण है कि उसका लेखन प्रायः निष्कर्णात्मक होता है और पाठक की सहमति को परोक्ष रूप से बीतने में ही अपनी सफलता मानता है।

रांगेय राघव के नाटकों में विभिन्न मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है जैसे सामाजिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य, साहित्यिक। सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत माँ बेटे, व्यक्ति, समाज तथा परिवार और उसकी इकाइयों का सम्बन्ध होता है। 'विरूढ़क' में मां-बेटे का कितना सुन्दर रूप मिलता है। 'विरूढ़क अपनी मां वाष्भिसात्रिया के लिए दीर्घकारायण से कहता है मां अपने बेटे के लिए कभी लांछन नहीं सुन सकती। मां की स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है—"मां! मां इतनी महान है। भरी मूर्छा! तू कितनी भली है कि मां मेरे लगाये लांछन को नहीं सुन सकी। सच वह मेरे मुख से इन हृदय-विधारक शब्दों को सुन लेती तो उसका निश्चय ही तुरन्त प्राणांत हो जाता।"[1] मनुष्य और समाज का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि—"मनुष्य का व्यक्तिगत पाप समाज का पाप है।"[2] पारिवारिक इकाई के सम्बन्ध में कहते हैं कि परिवार में रहते अगर कोई बन्धन है जो उसे उसके सिद्धान्तों से गिरा दे तो परिवार का त्याग ही उचित है। 'रामानुज' में वेदनायकी और बल मेलु गंगा घर की परिस्थिति से झगड़ पड़ती है। उसके बाद रामानुज को भी खरी-खोटी सुनाती है तो रामानुज कहते हैं कि—परिवार के ये जराजीर्ण बन्धन मुझे मोहित नहीं करते जो मुझे मेरे सिद्धान्तों से डिगाने का प्रयत्न करते।"[3] राजनैतिक मूल्य पर दृष्टि ढालते हुए वह उस समय के राजा, शासन तथा

1. 'विरूढ़क' : रांगेय राघव, पृ० 86.
2. स्वर्गभूमि का यात्री : रांगेय राघव, पृ० 248.
3. 'रामानुज' : रांगेय राघव पृ० 63.

शासित व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। इसके साथ ही सांस्कृतिक मूल्य की चर्चा भी उनके नाटकों में मिलती है। करुणा सांस्कृतिक मूल्य का एक घटक है। रांगेय राघव कहते हैं कि करुणा से पूर्ण मनुष्य ही मानवता की रक्षा कर सकता है—"मानव की शक्ति करुणा है, करुणा का प्रोज्जवल अन्तरतल उसकी भक्ति है। भक्ति ही भगवान है और भगवान मनुष्य का प्रेम है।"

निष्कर्ष रूप में यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि राघव के सन्दर्भ में मानवतावाद से तात्पर्य मानव-कल्याणवाद से ही अधिक है। क्योंकि यह सुनिश्चित है कि कोई एक मत अथवा वाद मानव कल्याण से सभी पक्षों का आकलन नहीं कर सकता अपितु वह उन सबके सामंजस्य द्वारा ही सम्भव है और यह सामंजस्य भी कोई पक्षपातरहित एवं मानव कल्याण के लिए नितान्त उत्कंठित व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए रांगेय राघव को किसी मतवाद में बांधा नहीं जा सकता। उनके नाटककार को मानवतावादी तथा नाटकों के प्रतिपाद्य को समन्वित मानवतावाद अर्थात् मानव कल्याणवाद को व्यापक संज्ञा देना ही सर्वोचित है। मानव को मानव परिकर की एक इकाई तथा सम्पूर्ण मानव समाज को मानवता के कोमल सम्बन्ध सूत्रों से आनन्द मानकर एक मानव का कर्त्तव्य अन्य मानवों का मंगल विधान निर्धारित करने वाले दृष्टिकोण को मानवतावादी कहा जा सकता है। जो दृष्टिकोण किसी भी संकीर्ण मत से ग्रस्त नहीं है, वह अपनी व्यापकता में सहज ही उन सभी तत्वों को समाहित कर लेने की क्षमता से युक्त हो जाता है वह मानवीय चेतना के उन्नायक होते हैं। हम मानवतावाद को वह व्यापक दृष्टिकोण कह सकते हैं जिसमें प्रवेश करने के अनन्तर सभी विरोधी मत अपनी संकीर्णता को त्यागकर परस्पर समन्वित हो जाते हैं। मानवतावाद समष्टि के हितार्थ व्यष्टि के त्याग का समर्थन करता है और साथ ही व्यक्ति स्वतन्त्रता एवं चारित्रिक फल पर भी अपना ध्यान रखता है।

(प्रवक्ता : सरकारी कालेज, तरनतारन, अमृतसर)

साहित्यिक शोध की विधिमूलक समस्याएँ

प्रो० सरोज बाला

प्रत्येक खोज सत्य की प्राप्ति और उसको स्थापित करने के लिए कार्यशील रहती है। खोज अंग्रेज़ी शब्द रिसर्च (Research) का समानार्थक है। तलाश और ढूंढने की क्रियाएँ खोज के मौलिक अर्थों का ज्ञान देती हैं। पाठक की दृष्टि से ओझल तथ्यों को प्रत्यक्ष करना ही खोज का साधारण और स्पष्ट उद्देश्य है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में खोज का अर्थ नये तथ्यों की तलाश और उनकी तर्कपूर्ण व्याख्या हो गया है। अंग्रेज़ी शब्द 'Research' में 'Re' से भाव बार-बार या दुबारा या निरीक्षण करना है। यह संकल्प खोज प्रक्रिया के सम्पूर्ण स्वरूप को उजागर करता है। इस प्रकार खोज की प्रकृति सत्य की स्थापना है। तथ्यों द्वारा ही सत्य तक पहुंचा जा सकता है पर यह आवश्यक नहीं कि समस्त तथ्य साहित्यिक खोज में सहायता दें। यह तथ्य खोज का रूप तभी धारण करते हैं जब इनकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जाए। 'इनसाइकलोपीडिया आफ ऐजुकेशन' में खोज का अर्थ इस प्रकार है—"खोज का लक्ष्य ज्ञान की खोज करना, ज्ञान में वृद्धि करना अथवा इसको शुद्ध करना होता है। खोज इसलिए की जाती है कि हम कुछ जानना चाहते हैं।"[1] खोज के बहुत से क्षेत्र हैं। इनमें एक क्षेत्र साहित्यिक खोज है। साहित्यिक खोज की मौलिक सामग्री साहित्यिक रचनाएँ हैं। साहित्यक खोज करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता किसी साहित्यक कृति को बतौर साहित्यिक पक्ष से पहचानने की है। साहित्यिक खोज में साहित्यिक रचनाओं, शैलियों, धाराओं पर और इसी तरह की और सामग्रियों का पर्यवेक्षण किया जाता है। जिनमें कोई साहित्यिकार रचना करता है। इससे अतिरिक्त साहित्यिकता के विश्लेषण और व्याख्या साथ-साथ जुड़े बहुत अधिक प्रश्न बहुपक्षीय ज्ञान की मांग करते हैं। साहित्यिक रचनाओं के प्रयोजन का प्रश्न एक ही समय साहित्यशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय योग्यता की मांग करता है। साहित्यिक खोज का क्षेत्र व्यापक होने के कारण इसके विविध रूप हैं। डा० केसर सिंह केसर ने साहित्यिक खोज को मुख्य रूप में तीन प्रकार की माना है[2]—

(क) सिद्धान्त मूलक

1. इनसाइकलोपीडिया आफ ऐजुकेशन कापी 7, पृ० 511.
2. परख : खोज विधि विशेषांक, 1976. पृष्ठ 16.

(ख) तथ्य मूलक

(ग) समीक्षा मूलक

डा० केसर ने सिद्धान्त मूलक का अर्थ कोई नया आविष्कार, नया सिद्धान्त पेश किया है। साहित्यिक खोज तथ्यों का विश्लेषण, व्याख्या तथा मूल्यांकन करती है। इसलिए साहित्यिक खोज का प्रथम कार्य समीक्षा के मार्गदर्शन हेतु कुछ मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना करना है। उदाहरणत: यदि हम सूफी काव्य के विशेष लक्षणों की खोज करते हैं तो सर्वप्रथम हमारे लिए आवश्यक है कि हम फरीद, शाह हुसैन, बुल्लेशाह आदि अलग-अलग कवियों की कृतियों को लेकर उनका पाठ विश्लेषण करते हुए सृजनात्मक लक्षणों की खोज करें। जो सूफी कविता का निर्माण करते हैं इस तरह सूफी काव्य के सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है।

साहित्यिक खोज की दूसरी प्रकार तथ्य अनुसंधान है। तथ्यों के ज्ञान के बिना समीक्षा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। तथ्य मूलक खोज का आधार हमारा हस्तलिखित साहित्य है। हस्तलिखित साहित्य का महत्त्व बहुपक्षीय है। जहां तक ऐसे साहित्य की खोज का प्रश्न है (या सम्बन्ध है) वह सन्तोषजनक नहीं। सबसे प्रथम समस्या तो हस्तलिखित साहित्य को प्राप्त करने की है। जिन व्यक्तियों के पास प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं वह उनको देने के लिए सहमत नहीं होते। उस साहित्य को प्राप्त कर लेने के बाद भी कई समस्याएँ सामने आती हैं, जैसे भाषाई प्रयोग अथवा उस साहित्य के विभिन्न रूप। मध्यकाल के साहित्यकार एक से अधिक भाषाओं में लिखते थे। अत: भिन्न-भिन्न भाषाई रूप, परम्पराएँ इसका स्तरीय विकास (स्तर-दर-स्तर विकास) है। शब्द विन्यास और अर्थ विकास का ज्ञान अर्जित करने हेतु इसका बहुस्तरीय अध्ययन आवश्यक है। इससे लेखक निर्धारण की समस्या, काल निर्धारण की समस्या और प्रामाणिक पाठ निर्धारण की समस्याएँ प्रमुख हैं। लेखक निर्धारण सम्बन्धी समस्याएँ कविता से अधिक गद्य क्षेत्र में हैं। कविता में तो लेखक अन्तिम पंक्तियों में अपना नाम संकेत दे देते हैं। गद्य में लेखक अपना नाम देने से क्यों संकोच करता था इसके कुछ अनुमानित कारण इस तरह हो सकते हैं।

(1) मध्यकाल की समूची सोच अध्यात्मवादी थी। धार्मिक श्रद्धावश विद्वान् लेखक अपनी रचनाएँ अपने गुरु या अपने इष्ट के नाम समर्पित करते थे।

(2) कई विद्वानों में अपनी रचनाओं को प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम से जोड़कर प्रसिद्धि प्राप्त करने की लालसा प्रबल थी।

कुछ हस्तलिखित पाण्डुलिपियां ऐसी हैं जिनमें लेखक के विषय में संकेत चिन्हों का अभाव है। परन्तु कुछेक ऐसी हैं जिनमें लेखक के संकेत प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मिलते हैं लेकिन उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिन ग्रन्थों में लेखक के

बारे में संकेत नहीं मिलता वह पुरातन जन्मसाखियां हैं । अलग-अलग लेखकों ने अपनी समझ के अनुसार इनके लेखक निर्धारित करने का प्रयास किया है । इसी तरह 'प्रेम सुमार्ग' ग्रन्थ के आरम्भ को देखकर कहा जाता है कि यह गुरु गोबिन्द सिंह जी की रचना है । 'विचित्र नाटक' में गुरु गोबिन्द सिंह जी ने अकाल पुरुष की आज्ञा का संकेत दिया है । इसी तरह 'प्रेम सुमार्ग' में भी मिलता है । इसके अतिरिक्त और भी कई रचनाएँ जैसे 'वचन गोबिन्द लोकां दे', 'सुखन फकीरां दे, 'गुरु प्रणाली', 'कथा पूरनमासी की' आदि रचनाओं के लेखक बारे बिल्कुल कुछ पता नहीं चल रहा । इन सब का कारण है कि गुप्तदान की परम्परा अधीन साहित्य रचना करने वाले अपना नाम छिपा लेते थे ।

लेखक के संकेत वाली हस्तलिखित रचनाओं के बारे में भी समस्या आती है । मध्यकाल की कविता तथा गद्य के लेखक अपनी रचनाएँ अपने गुरु को समर्पित करते थे । ऐसे लेखक का संकेत होते हुए भी सन्देह बना रहता था । जैसे ज्ञानी सम्प्रदाय के लेखकों ने अपनी रचनाओं में भाई मनी सिंह का नाम दिया है । मध्यकाल में राज-दरबारी कवियों की परम्परा भी रही है । अतः ग्रन्थ रचना तो कोई दरबारी कवि करता है परन्तु रचना के ऊपर नाम अपने राजा का देता है । इस अवस्था में भी लेखक का निर्णय करना कठिन हो जाता है । इसके बिना लेखक अपनी रचना में अपने कई नाम प्रयोग करता है, इससे समस्या ही उत्पन्न होती हैं ।

लेखक निर्धारण की समस्या के बाद काल निर्धारण की समस्या है । अधिकतर हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं जिनमें समय के बारे कहीं भी संकेत नहीं मिलते या फिर अस्पष्ट ढंग से समय के बारे संकेत प्राप्य हैं । जो भी समय संकेत मिलते हैं वह भी कई तरह से मिलते हैं । जैसे—

शब्दों की जगह पद का प्रयोग,
विक्रमी, हिजरी आदि साल का प्रयोग ।

तथ्य अनुसंधान खोज में इससे आगे जो प्रमुख समस्या है वह है पाठ निर्धारण की समस्या । पुरातन हस्तलिखित ग्रन्थों को प्राप्त कर प्रामाणिक पाठ का संयोजन करना, साहित्यिक अनुसंधाता का विलक्षण और महत्त्वपूर्ण कार्य है । कुछ कृतियों के बहुत से रूप मिलते हैं । अत: प्रमाणिक पाठ को प्राप्त करना कठिन हो जाता है । किसी कृति के एक रूप (copy) या प्रतिलिपि के आधार पर पाठ तैयार करना प्रामाणिक पाठ के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । पुरातन रचनाओं की कई प्रतिलिपियां उपलब्ध हैं । उनके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही प्रामाणिक पाठ संयोजित किया जा सकता है । डा० रतन सिंह जग्गी अनुसार—

"पाठ का निर्णय करना भी हर तरह की खोज जैसे ही 'सत्य' तक पहुंचना है ।

किसी कृति के पाठ को निर्धारित करने के लिए जितनी योग्यता और ईमानदारी के साथ भिन्न-भिन्न प्रतिलिपियों की खोज कर एकत्रित किया जाएगा और मेहनत तथा रुचि के साथ उसकी तुलना कर वास्तविकता की खोज का प्रयास किया जाएगा, उतना ही सत्य के करीब पहुँचने की आशा होगी।"[1]

हस्तलिखित साहित्य जो आज उपलब्ध है, उसमें प्राप्त पाठ अशुद्ध हैं। क्योंकि प्राचीन काल में छापाखानों के न होने के कारण उसकी प्रतिलिपि वैसे ही करनी पड़ती थी। अत: मौलिक पाठ में कुछ परिवर्तन अचेत ही हो जाते थे और कुछ प्रतिलिपिकार चेतन तौर पर कर देते थे। तथ्य मूलक खोज (अनुसन्धान) की एक और बड़ी समस्या साहित्यिक-तथ्यों के मूल्यांकन की होती है। इसमें साहित्य सिद्धान्त और समीक्षा सहायक होते हैं। साहित्य इतिहास और साहित्य सिद्धान्त की सूझ जहां रचना के आन्तरिक प्रबन्ध को समझने में सहायक सिद्ध होती है वहां बाह्य इतिहास की पहचान प्रस्तुत सत्य के सामाजिक ऐतिहासिक कार्य को भी निश्चित करती है तथा रचना के अर्थों को गहराई और सार्थक परिप्रेक्ष्य भी प्रदान करती है।

साहित्यिक अनुसन्धान की तीसरी किस्म समीक्षा है। समीक्षा का साधारण सा अर्थ है, किसी विचारधारा, संकल्पवाद अथवा माडल को आधार बनाकर किसी एक लेखक अथवा रचना-पाठ की व्याख्या करना। जैसे हम जानते हैं कि साहित्यिक खोज कृतियों का विश्लेषण, व्याख्या तथा मूल्यांकन करती है। साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने के लिए एक से अधिक प्रणालियां और विधियां प्रचलित हैं जैसे संरचनावादी आलोचना प्रणाली, मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली, रूपवादी और ऐतिहासिक आदि। यह विभिन्न प्रणालियां विभिन्न विधियों द्वारा समीक्षा करती हैं। जैसे संरचनावादी आलोचना प्रणाली ने परम्परा से सम्बन्धित मनुष्य के अद्वितीयपन पर प्रमाणिकता का प्रश्न चिन्ह लगाया है तथा व्याख्या से अधिक विश्लेषण पर दबाव डाला है।"[2] साधारण शब्दों में ऐसे कहा जा सकता है कि प्रामाणिक पाठ की आन्तरिक-भावना को देखने की विधि है। मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली में लेखक हर कृति को समाज से सम्बन्धित जानकर अवलोकन करता है। "मार्क्स का आर्थिक सिद्धान्त मूल रूप में पूंजीवाद का विश्लेषण ही है।"[3] हमें यह देखना है कि मार्क्सवाद तथा साहित्यिक आलोचना का क्या सम्बन्ध है? मार्क्सवादी आलोचना साहित्य का विश्लेषण उन ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में करती है जो इसके अस्तित्व को

1. गुरुचरण सिंह अरसी, समीक्षा दृष्टियां, पृ० 1.
2. गुरुचरण सिंह अरसी, समीक्षा दृष्टियां, पृ० 77.
3. पुरातन हत्थलिखतां दी खोज अते सम्पादन, खोज दर्पण जनवरी, 1975. पृ० 9.

जन्म देती है। परन्तु मार्क्सवादी आलोचना साहित्य का केवल समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं बल्कि इसका उद्देश्य साहित्यिक कृति की सर्वांगीण व्याख्या करना है। इस उद्देश्य के लिए साहित्यिक कृति के रूप, शैलियों तथा अर्थों की गहराईयों को अधिक गम्भीरता से सोचा जाना आवश्यक है। इसी तरह ही रूपवादी आलोचना प्रणाली है। वह साहित्य और कला की प्रकृति पर अधिक ध्यान देते हैं। इनकी आगे दो धाराएँ (स्कूल) विद्यमान हैं—

(1) रूसी रूपवाद।

(2) अमरीकी नवालोचना।

रूसी रूपवाद तथा अमरीकी नवालोचना आपस में समकालीन हैं। इनके बहुत से सिद्धान्त आपस में मेल खाते हैं। इनके अनुसार "साहित्यिक अध्ययन का उद्देश्य साहित्यिक कृतियों का अध्ययन करना है। इन्होंने रूप तथा वस्तु की विभिन्नता को समाप्त करने पर बल दिया है और साहित्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली ऐतिहासिक विधि से कृति की व्याख्या तथा विश्लेषण या मूल्यांकन करती है। इस विधि द्वारा जहां हम साहित्य में से जातीय संघर्ष के ताने-वाने को अच्छी तरह निखार सकते हैं वहां किसी साहित्यिक रचना को उसके साहित्यिक तथा सामाजिक प्रसंग में उचित स्थान पर स्थापित कर सकते हैं। नये अनुसन्धान किये गये हस्तलिखित साहित्य सम्बन्धी रचनाओं का निर्णय करना भी इस विधि द्वारा आसान हो सकता है। साहित्येतिहास के उचित काल विभाजन में भी यह विधि सहायक है। साहित्य में काल विभाजन करने के लिए आधार का मूल स्रोत राजनीति में परिवर्तन होना चाहिए। ऐतिहासिक खोज विधि की सहायता से हम साहित्यकार की धाराओं तथा काल खण्ड में उचित स्थान निश्चित कर सकते हैं। इसी तरह ऐतिहासिक खोज की विधि ही साहित्येतिहास लेखक के पास एक वैज्ञानिक औजार है। यह विधि अनुसन्धानता की वृत्ति को वैज्ञानिक सांचे में ढालती है। परन्तु इसमें भी अनुसन्धान को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। जैसे साहित्यिक अनुसन्धान की सामग्री की प्रामाणिकता को निश्चित करने के लिए आन्तरिक प्रभावों (अन्तर्साक्ष्य) तथा बाह्य प्रभावों का विश्लेषण करना जिसकी प्रत्येक ऐतिहासिक अनुसन्धाता से आशा करनी चाहिए।

डा० आशा नन्द वोहरा ने खोज कार्य की चार प्रणालियां स्वीकार की है[1] :—

(1) विकासात्मक अध्ययन।

(2) विश्लेषात्मक व्याख्या।

---

1. **तुलनात्मक खोज : सरूप हे प्रतिक्रिया, पंजाबी दुनिया, जुलाई, सितम्बर, 1983. पृ० 7.**

(3) तुलना।
(4) वर्गीकरण।

विकास की प्रक्रिया का सम्बन्ध काल से है वह किस बिन्दु से आरम्भ होकर कहां तक पहुंचता है। काल सम्बन्धित प्रश्न इतिहास का क्षेत्र है अत: यह विकासात्मक अध्ययन है। उदाहरणतया यदि हमें अमृता प्रीतम की कविता का विकास देखना है तो हम उस के सृजन काल के विभिन्न स्तरों का अध्ययन करेंगे। अत: यह सारा अध्ययन विकासात्मक है।

विश्लेषणात्मक अध्ययन भी साहित्यिक समीक्षा का एक अंग है। इसमें कृति के तत्वों का विश्लेषण करते हुए उनका आपसी सम्बन्ध खोजने का प्रयास किया जाता है। इसी तरह तुलना का सम्बन्ध साहित्य समीक्षा के साथ भी है और साहित्य अध्ययन के साथ भी। तुलनात्मक खोज प्रणाली का क्षेत्र दूसरी प्रणालियों से अधिक विस्तृत है। इसमें दो या दो से अधिक संदर्भों को आधार बनाया जाता है। तुलना समानता और विभिन्नता के आधार पर ही की जाती है। यह अलग-अलग लेखकों की भी हो सकती है अलग-अलग धाराओं की। जैसे अमृता प्रीतम और मोहन सिंह की कविता का तुलनात्मक अध्ययन। यह एक ही भाषा के दो कवियों का तुलनात्मक अध्ययन है। इसी तरह स्वदेशी लेखक की विदेशी लेखक या कवि से तुलना की जा सकती है, जैसे प्रो० पूर्ण सिंह तथा वाल्टविटमैन की कविता का तुलनात्मक अध्ययन। इसी तरह दो अलग धाराओं अथवा दो अलग-अलग कालों की तुलना के उदाहरण भी मिलते हैं।

चौथी प्रकार वर्गीकरण की है। वर्गीकरण की प्रक्रिया को एक से अधिक अनुशासनों में प्रयोग किया जा सकता है। इसका महत्त्व साहित्य समीक्षा और साहित्येतिहासकारी दोनों में है। इसके अन्तर्गत समान लक्षणों के आधार पर एक वर्ग में रखा जाता है।

वर्गीकरण के भी अलग आधार माने जाते हैं :—
(1) विचारधारा के आधार पर।
(2) रूप विधाओं के आधार पर।
(3) कलात्मक शैलियों के आधार पर।

मध्यकालीन पंजाबी साहित्येहास में विचारधारा के आधार पर साहित्य के एक से अधिक वर्ग मिलते हैं जैसे गुरुमत विचारधारा के आधार पर गुरुमत काव्य, सूफी काव्य विकसित हुए। जब अलग-अलग रचनाओं को समान लक्षणों के आधार पर एक ही वर्ग में रखा जाता है तो यह रूप विधाओं के आधार पर वर्गीकरण कहा जाता

है। इसी तरह कलात्मक शैलियों के आधार पर भी वर्गीकरण किया जाता है। जैसे प्रयोगवादी कविता नई शैलियों पर आधारित कविता है।

साहित्यिक अनुसन्धान चाहे तथ्यात्मक हो अथवा विचारात्मक इसके लिए सर्वेक्षण की सहायता ली जा सकती है। पुस्तकों पर आधारित खोज करते हुए तो क्षेत्र में जाने की आवश्यकता नहीं, ऐसी खोज तो पुस्तकालय में से नये तथ्यों की खोज करते हुए पुराने तथ्यों में कमी करते हुए, खोज करते हुए ही की जा सकती है। परन्तु सर्वेक्षण अनुसन्धान जैसे कि इसके नाम से ही जान पड़ता है। इसका सम्बन्ध क्षेत्रीय कार्य से है। समाज विज्ञान, मानव विज्ञान, भाषा विज्ञान के साथ साहित्य तथा सभ्याचार आदि क्षेत्रों में अनुसन्धान करने हेतु सर्वेक्षण की आवश्यकता है। समाज तथा सभ्याचार की मौलिक समस्याओं (वास्तविक समस्याओं) को वैज्ञानिक तथा वस्तुमूलक ढंग से पहचानने के लिए उनको उचित परिप्रेक्ष्य में विचारने के लिए सर्वेक्षण की आवश्यकता है। क्षेत्रीय निरीक्षण कई बार ऐसे क्षेत्रों में ये सामग्री एकत्रित करने हेतु लाभदायक सिद्ध होता है जहां दूसरी क्षेत्रीय विधियों द्वारा सामग्री एकत्रित करना कठिन होता है। लोकयान के कुछ अध्ययन क्षेत्र जैसे लोकधर्म, अनुशासन आदि ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें क्षेत्रीय निरीक्षण अधिक सहायता करेगा। इसी तरह किसी युग के साहित्यिक-सभ्याचार की खोज करने के लिए साहित्यिक रचनाओं पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ और क्रियाओं का भी निरीक्षण करना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर यदि हम पंजाबी साहित्य सभ्याचार को प्रदर्शित करना हो तो साहित्यिक कृतियों के साथ-साथ और क्रियाएं जैसे संचार साधन, साहित्य-सभाओं की क्रियाशीलता तथा पुस्तकों के प्रकाशन सम्बन्धी समस्याएं आदि क्रियाओं का भी निरीक्षण करना पड़ता है। निरीक्षण की कई शैलियां हैं, जिनके द्वारा तथ्यों को एकत्रित किया जाता है।[1]

(1) संलग्न होते हुए (Participant's observation).

(2) अलग रहते हुए (दृष्टा रूपी विश्लेषण) (Non-Participant's observation).

प्रथम में अनुसंधाता सूचकों में स्वयं विचरण करता है। वह उनके वातावरण में अपने आप को संलग्न करता हुआ उनसे सम्बन्धित अपने प्रभावों को अंकित करता है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि समय अधिक व्यय होता है परन्तु जो परिणाम निकलते हैं वह अधिक विश्वसनीय होते हैं। अनुसंधान करता क्षेत्र की सूक्ष्मताओं से पूरी तरह ज्ञानवर्धन कर लेता हो। दृष्टा रूपी विश्लेषण में क्षेत्रीय

1. पेविलाइन वी. जंग, "साइंटिफिक शोसल सर्वे एण्ड रिसर्च" पृ० 163.

निरीक्षक सामाजिक स्थितियों तथा मनुष्य व्यवहार में स्वयं संलग्न न होकर दृष्टा का रूप धारण करता है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कार भी सर्वेक्षण खोज की महत्त्वपूर्ण शैली है। डा० प्यार सिंह के अनुसार :—

क्षेत्र में आधार सामग्री एकत्रित करने की प्रभावशाली विधि साक्षात्कार है। इस ढंग का प्रयोग तब किया जाता है जब क्षेत्र में जाकर लोगों में रहकर निरीक्षण कर सकना संभव न हो सके। यह कुछ सीमा तक वह कार्य करने में सक्षम होता है जो कल्याणकारी निरीक्षण करता है परन्तु कुछ सीमाओं के घेरे में ही''[1] नि:सन्देह साक्षात्कार खोज की सर्वप्रामाणिक शैली है फिर भी इसकी सीमाएं हैं। साक्षात्कार द्वारा एकत्रित की हुई सामग्री की प्रामाणिकता को कई बार संशय की दृष्टि से देखा जाता है और एकपक्षीय समझा जाता है। दूसरा किसी अजनबी-अनजान व्यक्ति को साक्षात्कार के लिए सहमत करना कई बार कठिन हो जाता है। यदि साक्षात्कार का विषय किसी के घरेलू या निजी जीवन से सम्बन्धित हो, यदि भावना जानने सम्बन्धी हो तो और भी कठिन हो जाता है।

प्रश्नसूची भी वह क्षेत्रीय विधि है जिसके द्वारा सूचकों से प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करते हुए आवश्यक सामग्री प्राप्त की जा सकती है। दूसरी प्रणालियों जैसे निरीक्षण, साक्षात्कार, केस-अध्ययन आदि में भी यह विधि अधिक कार्यशील होती है। प्रश्नसूची/प्रश्नावली लेकर कार्यकर्त्ता स्वयं भी सूचकों के पास पहुंच सकता है। परन्तु प्रश्नावली का कार्य क्षेत्र क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता के निजी प्रयासों तक सीमित होता है। यदि सदूर क्षेत्रों से सामग्री एकत्रित करनी हो तो प्रश्नावली की सहायता ली जाती है। इसमें भी कई कठिनाईयां सामने आती हैं। अनुसंधानकर्त्ता ने जो प्रश्नावली तैयार की है आवश्यक नहीं कि सूचक उसके समस्त प्रश्नों के उत्तर दे सकेगा। इसके अतिरिक्त कुछ प्रश्नों के उत्तर देने में सूचक हिचकिचाहट भी महसूस करता है।

उपरोक्त चर्चा करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि साहित्यिक खोज हेतु अलग-अलग विधियां अपनाई जाती हैं। यदि विभिन्न विधियां खोज की प्रकृति पर निर्भर करती हैं। यह विधियां अन्तर्सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त अलग-अलग क्षेत्रों के लिए अलग-अलग विधियों का प्रयोग किया जाता है और हर विधि की अपनी ही समस्याएं हैं।

(प्रवक्ता : डी० ए० वी० कालेज, गिद्दड़बाहा)

---

1. खोज दर्पण, जुलाई 1979, पृष्ठ 9.

मानव जीवन में नैतिकता का महत्त्व

डा० निर्मल कौशिक

नैतिकता वास्तव में व्यवहार की वह नीति है, जिससे अपना कल्याण हो और समाज को कोई बाधा न पहुंचे। व्यवहार के लिए शुभ, कल्याणकारी एवं अच्छाई का संकल्प ही मानव समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अत: नैतिकता का अभिप्राय: दुर्गुणों से बचाकर मनुष्य को सद्गुणों की ओर प्रेरित करना है। नीति मनुष्य के आचार को संयमित एवं नियोजित बनाती है। जिससे मानव सद्व्यवहार के बल पर श्रेष्ठतर मानव कहलाता है। नैतिकता का मूल शब्द 'नीति' है। 'नीति' शब्द संस्कृत के नी+क्तिन् (प्रत्यय) लगाने से बना है। जिसका अर्थ है। ले जाने की क्रिया, चालचलन, आचार पद्धति। वृहद् हिन्दी कोश में नीति अथवा नैतिकता को लोकोपयोगी सिद्धान्त कहा गया है। 'महानकोश' के अनुसार इसे मानव को श्रेष्ठ गुणों की ओर अग्रसर करने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वास्तव में नैतिकता मानव को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती है।

'मानविकी पारिभाषिक कोश' के अनुसार नैतिकता दर्शन का ही एक उप भाग है जो मनुष्य को आदर्शों की ओर ले जाती है। दर्शन का वह पक्ष, जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है। इस विवेचन में औचित्य-अनौचित्य तथा शुभाशुभ का विचार विशेष रूप से होता है और यथासम्भव नैनिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है। इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि 'नैतिकता दर्शन की ही एक शाखा है जिसमें मनुष्य के नैतिक कार्यों, निश्चयों का मूल्यांकन किया जाता है और उसके साधारण व्यवहार के विषय में जाना जाता है। नीति या नैतिकता मानव व्यवहार की सद्कृतियों एवं सद्गुणों का ही विकास करती है। अच्छे आचरण वाला व्यक्ति ही समाज में आदरणीय होता है। सदाचार मानवीयता का प्रथम गुण है। आदर्श जीवन बिताने के लिए सदाचारी होना अनिवार्य है। नैतिकता मानव को सदाचारी बनाने में परम सहायक है। निश्चयात्मक रूप से नैतिकता मानव को व्यवहार, आचरण, चरित्र, सद्गुण, जीवन का ढंग, नियम तथा अनुशासन की ओर अग्रसर करती है।

आज विश्व के लगभग सभी देशों में प्रगति की होड़ के साथ-साथ विनाश से बचने हेतु मानवीय-एकता की बात भी चल रही है। भारत में यह विचारधारा

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में पहले ही प्रचलित थी। आज जब हम उसे पुन: जागृत करना चाहते हैं तो बात मानव ही से आरम्भ होती है। मानव एक व्यक्ति होकर भी समाज और देश का अभिन्न अंग है। व्यक्ति से परिवार, समाज, कबीला, प्रान्त, देश और विश्व निर्मित है। इन सब के केन्द्र में मानव विद्यमान है। अत: मानव का जीवन को सही दिशा देना पूरे विश्व को सन्मार्ग दिखाना है। प्रत्येक मानव द्वारा अपने कर्त्तव्य को निभाना ही समाज और देश के प्रति सच्ची और सर्वोच्च भावना है। किसी भी देश की सांस्कृतिक उन्नति का आधार मानव की अर्न्तमर्यादा अर्थात् नैतिक प्रेरणा है। यही प्रक्रिया व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होती है।

नैतिकता के दो प्रमुख पक्ष है, व्यक्तिगत और सामाजिक। मूलत: दोनों एक ही है। मानव एक सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। मानव-समुदाय ही तो समाज है। अत: व्यक्तिगत नैतिकता ही सामूहिक रूप में सामाजिक नैतिकता है। कई बार मानव 'स्वान्त: सुखाय' क्रियाशील होता है तो कई बार 'परान्त: सुखाय'। इसी में सामाजिक नैतिकता की भावना निहित है। यह भावना तभी उत्पन्न होती है जब मनुष्य स्वार्थ छोड़ कर निस्वार्थ भाव से त्याग, दया, प्रेम, परोपकार, सहयोग व आत्मीयता की तपोमूर्ति बन जाता है। तभी वह सदाचार के आदर्शमयी गुणों को अपनाकर अपना मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसे मानव ही अपने सत्कर्मों और सत्प्रयत्नों द्वारा समाज के लिए आदर्श बन जाते हैं और समाज के दोषों का निराकरण करते हैं। तब सदाचार ही उनका जीवन लक्ष्य हो जाता है। यही नैतिकता का प्रमुख आधार है। इसी पर मानव का आचार व्यवहार और कर्म निर्भर करता है। नैतिकता के अन्तर्गत आने वाले या किए जाने वाले व्यवहार को सामाजिक मर्यादा के अनुकूल ही ठहराया गया है। वह नीति जो दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक हो, वह अच्छाई जो दूसरों के लिए कष्टदायक हो, नैतिकता की सीमा से बाहर है, मानव के लिए त्याज्य है। नैतिकता मानव को आदर्श मानव बनने के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

नैतिकता मानव व्यवहार के लिए आलोचनात्मक विषय वस्तु प्रदान करती है। निश्चयात्मक रूप से नैतिकता मानव को व्यवहार, आचरण, चरित्र, सद्गुण, नियम तथा अनुशासन की ओर अग्रसर करती है। वास्तव में यह सभी पक्ष अन्तर्सम्बन्धित हैं। सदाचार से मनुष्य सदाचारी और सच्चरित्र बनता है। वह व्यवहार कुशल एवं सुखद जीवनयापन करता है। अत: नैतिकता मानव को सही जीवन-दिशा प्रदान करती हैं तथा गुण-दोष विवेचन हेतु नीर-क्षीर-विश्लेषण का आधार प्रस्तुत करती है। यह नियमित होने के कारण कुछ वैज्ञानिक भी है। सम्भवत: इसी कारण नैतिकतापूर्ण सिद्धान्तों से सम्बन्धित इस ज्ञानानुशासन को 'नीति शास्त्र' की संज्ञा से अभिहित किया

गया है। यह नीति शास्त्र मानव को सन्मार्ग की ओर ले जाता है। यह मानव को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का नियामक विज्ञान है। जब कई बार मानव अपनी भयानक समस्याओं में उलझ कर पथभ्रष्ट हो जाता है अथवा अपने अन्तर्द्वन्द्व के कारण किं कर्त्तव्य विमूढ: हो जाता है तब नीतिशास्त्र ही उसे अपने कर्त्तव्य की जानकारी देता है। उसे समस्याओं से मुक्त करता है। ऐसी जटिल स्थिति में मार्गदर्शक के रूप में नीतिशास्त्र यह निर्णय करता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए? उसका क्या कर्त्तव्य है? उसके जीवन के क्या आदर्श हैं? तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए कौन-कौन से साधन होने चाहिएं? ऐसी स्थिति में मानव नैतिक गुणों की ओर ही अग्रसर होता है।

नैतिकता सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष है। क्योंकि यह सामाजिक कर्त्तव्यों की ओर भी प्रेरित करती है। यह मानवकेन्द्रित होते हुए भी समाज के लिए है। नैतिकता के अन्तर्गत आने वाले या किए जाने वाले व्यवहारों को सामाजिक मर्यादा के अनुकूल ही ठहराया गया है। क्योंकि मानव का अकेला रहना कदाचित् सम्भव नहीं है। समाज में रहना मानव की मूल प्रवृत्ति है। समाज में रहते हुए व्यक्तिगत विचारधारा की भिन्नता के कारण अनेक समस्याएं पैदा होती है। उनका निराकरण नैतिकता द्वारा ही होता है। सत्य-असत्य, ठीक-गलत, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का निर्णय करने का मानदण्ड यही नैतिकता ही है। मानव अपने जीवन में उन्हीं आदर्शों का नेतृत्व स्वीकार करता है जो उसका सही दिशा में मार्गदर्शन करने वाले हैं। उसके आचार व्यवहार को समाज के लिए स्वीकार्य बनाते हैं। यही शुद्ध एवं स्वीकार्य आचार व्यवहार मानव के लिए नैतिकता के रूप में कार्य करता है। नैतिकता का आधार आचार-व्यवहार के परिणामों पर निर्भर करता है। मानव के इस अत्यन्त जटिलताओं से भरे जीवन में कार्यों के परिणाम नैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। परिणाम कारण पर आधारित होता है। जैसे शुभ कार्य नैतिकता के कारण होता है तथा अशुभ कार्य अनैतिकता के कारण। अत: नैतिकता ही मानव को शुभ की ओर प्रेरित करने में सक्षम है।

मानव अपने को दूसरों से श्रेष्ठतम बनाने के लिए इन्हीं नैतिक गुणों को मानदण्ड बनाता है। वह संसार के अन्य कार्यों की अपेक्षा अपने नैतिक कर्त्तव्यों सहयोग, सेवा, त्याग, परोपकार, प्रेम आदि गुणों से अपने सदाचार द्वारा दूसरों के प्रति उदार हो जाता है। यही प्रक्रिया उसके जीवन का अंग बन जाती है। जीवन के प्रत्येक क्षण तथा साधारण व्यवहार में भी उसका आचरण पवित्र और शुद्ध होने लगता है उसमें और साधारण व्यक्ति में जो नैतिक दृष्टि से बहुत नीचे है, आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। दूसरे शब्दों में मानव के श्रेष्ठतम गुण, अच्छा स्वभाव और उसके

आदर्श ही उसे नीतिवान् बनाते हैं। इससे एक अन्य बात भी स्पष्ट होती है कि किसी भी कार्य को सुचारु रूप से सूझबूझ के साथ करना ही नैतिकता है। वास्तव में मानव-जीवन के शुद्धाचारण को नैतिकता के पर्याय के रूप में ही जानना चाहिए।

आज वैज्ञानिक प्रगति के युग में मानव का अवमूल्यन हो रहा है। मानव निरन्तर ह्रास की ओर अग्रसर हो रहा है। उसका चारित्रिक पतन हो गया है। भौतिकवाद की अभिरुचि ने आध्यात्मवाद से उसका नाता तोड़ दिया है। सम्बन्धों में तनाव व टकराव के कारण आज मानव मोह भंग की सी स्थिति से गुज़र रहा है। आज आवश्यकता है मानव को उसकी स्थिति से अवगत कराने की। आज मानव अपने अस्तित्व को खो बैठा है। वह खोज करते-करते स्वयं कहीं अलोप हो गया है। यही कारण है आज सर्वत्र मार-काट, लूट-पाट का बोलबाला हो रहा है। आज पुन: मानव को अपने में उन गुणों को पैदा करने की आवश्यकता है जो उसे भ्रातृत्व की दृष्टि 'प्रदान' कर सके। उसके अन्दर दया, सेवा, परोपकार, त्याग, मैत्री, सद्भावना जैसे भाव उत्पन्न कर सकें। उसे सभी अपने जैसे नज़र आएं। अपने-पराए का अन्तर मिट जाए। ऐसा तभी सम्भव है जब मानव के अन्दर नैतिकता का विकास हो। वह सत्य-असत्य, अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का अन्तर जान सके। बुराई को दूर करने का साहस रखता हो। अच्छाई को धारण करने में सक्षम हो। मानव की सार्थकता उसके नैतिक गुणों से ही सम्भव है। नैतिकता के कारण ही मानव कहलाने का अधिकारी है। ऐसा मानव ही मुक्त कण्ठ से कहता है :—

सर्वे भवन्तु सुखिन:
सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दु:ख भागभवेत्।

(प्रवक्ता, सरकारी बृजेन्द्र कालेज, फरीदकोट)